

# पाठ-पुनर्पाठ

लॉ क डाउन

28 वाँ दिन

राजकमल प्रकाशन समूह

## क्रम

प्रकाशकीय

3

क्रिस्सा कोताह

संस्मरण-अंश

राजेश जोशी

5

तंगहाली में संघर्ष (1931-1938)

आत्मकथा-अंश (अनु. विनोद दास)

राधू करमाकर

43

गैंडे के सींग की तरह अकेला  
(घुमक्कड़-शास्त्र को दुबारा पढ़कर)

निबन्ध

केदारनाथ सिंह

53

परछाइयाँ

तवील नज़्म (लिप्यंतरण आशा प्रभात)

साहिर लुधियानवी

62

## प्रकाशकीय

कोरोना का संकट अब वैश्विक बदलाव का नया प्रस्थान बिंदु बन चुका है। इसका असर मानव जीवन पर कई रूपों में पड़ने वाला है। कुछ संकेत अब स्पष्ट रूप से दिखने लगे हैं। यह हमारी पढ़ने-लिखने की आदतों पर भी अपनी छाप छोड़ेगा, ऐसा लग रहा है। अभी आप चाहते हुए भी अपनी मनचाही किताब खरीद नहीं सकते, हम आपकी कोई मदद कर नहीं सकते। जितनी ई-बुक या ऑडियो बुक ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर मौजूद हैं, उनमें से ही चयन करना, पढ़ना और सुनना एक विकल्प है। दूसरा विकल्प है, घर में उपलब्ध पढ़ी-अनपढ़ी किताबों को इस लॉक डाउन की अवधि में पढ़ जाना। हमसे कई साहित्य-अनुरागियों ने अपने ऐसे अनुभव साझा किए हैं कि उन्हें आजकल कई भूली-बिसरी रचनाएँ याद आ रही हैं। उन्हें पढ़ने का मन हो रहा है। कुछ को नई किताबों के बारे में भी जानने की उत्सुकता है, जिनके बारे में चर्चा सुन रखी है। हमने इन सब स्थितियों के मद्देनज़र 3 मई 2020 तक प्रतिदिन आप सबको एक पुस्तिका उपलब्ध कराने का संकल्प किया है। व्हाट्सएप्प पर निःशुल्क।

22 मार्च 2020 से हमने फेसबुक लाइव के जरिये अपने व्यापक साहित्यप्रेमी समाज से लेखकों के संवाद का एक सिलसिला बना रखा

है। जब से सोशल डिस्टेंसिंग यानी संग-रोध का दूसरा दौर शुरू हुआ है, तब से हम अपनी जिम्मेदारी और बढ़ी हुई महसूस कर रहे हैं। सभी के लिए मानसिक खुराक उपलब्ध रहे, यह अपना सामाजिक दायित्व मानते हुए अब हम 'पाठ-पुनर्पाठ' पुस्तिकाओं की यह श्रृंखला शुरू कर रहे हैं। ईबुक और ऑडियोबुक डाउनलोड करने की सुविधा सबके लिए सुगम नहीं है। इसलिए हम अब व्हाट्सएप्प पर सबके लिए निःशुल्क रचनाएँ नियमित उपलब्ध कराने जा रहे हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए आप राजकमल प्रकाशन समूह का यह व्हाट्सएप्प नम्बर 98108 02875 अपने फोन में सुरक्षित करें और उसके बाद उसी नम्बर पर अपना नाम लिखकर हमें मैसेज करें। आपको नियमित निःशुल्क पुस्तिका मिलने लगेगी। हम समझते हैं कि यह असुविधाकारी नहीं है। आप जब चाहें, पावती सेवा बंद करवा सकते हैं। जब चाहें, पुनः शुरू करा सकते हैं। जब तक लॉक डाउन है, आप घर में हैं लेकिन अकेले नहीं हैं। राजकमल प्रकाशन समूह आपके साथ है। भरोसा रखें।

साथ जुड़ें, साथ पढ़ें...

# क्रिस्सा कोताह

\*

राजेश जोशी

## चौथी किश्त

जीवन और क्रिस्से कभी समाप्त नहीं होते। मनुष्य जैसे अपना पुनरुत्पादन करता है उसी तरह क्रिस्से भी अपनी औलादें पैदा करते रहते हैं और उनका वंश कभी समाप्त नहीं होता। मनुष्यों में बाँझपन एक बार मिल भी जाये पर क्रिस्सों में किसी क्रिस्म का बाँझपन नहीं होता। हम आप ज़्यादा से ज़्यादा चार पीढ़ी पहले के किसी पूर्वज को जानते होंगे। गया में फलगू नदी पर बैठा हमारे खानदान का कोई पण्डा अपना खाता खोलकर अधिकतम दस पीढ़ी के नाम बता देगा। स्मृति की नदी उद्गम की दिशा में बहुत ज़्यादा दूर तक नहीं बहती। क्रिस्सों का वंश-वृक्ष बनाना तो और भी टेढ़ी खीर है।

क्रिस्से कुछ-कुछ शराब की तरह होते हैं जो चाहे कितने की मुँह और कितनी ही ज़बानों से होकर गुजरे लेकिन वे जूटे नहीं होते। चण्डूखाने की चिलम जैसे एक के हाथ से दूसरे के हाथ में आती-जाती रहती है, क्रिस्से भी एक क्रिस्सेबाज से दूसरे क्रिस्सेबाज के पास सफ़र करते रहते हैं। चाहो तो उसे चिलम या हुक्का कुछ भी कह लो। बस उसमें तम्बाकू और आग बची रहना चाहिए।

घर से बाहर भाग जाना जितना आसान था, अपने भय से बाहर भाग जाना उतना आसान नहीं था। भय एक ऐसा परजीवी था जो गप्पी से खुराक लेकर उससे ज़्यादा ताकतवर हो गया था।

विक्टोरिया टर्मिनस पर ट्रेन से उतरकर बाहर आने तक गप्पी के लिए कुछ भी अपरिचित नहीं था। दो महीने पहले ही वह बम्बई में अपनी बहन के घर आया था। गर्मी की छुट्टियाँ उसने बम्बई में ही बिताई थीं। बम्बई का वह उसका पहला सफ़र था इसलिए उसने पैदल ही बम्बई की खाक छान मारी थी। 1962 का बम्बई मुंबई नहीं था। न सड़कों पर बहुत भीड़ थी, न बसों में। लोकल ट्रेन में सफ़र करना भी बहुत कठिन नहीं था। वह अकेला ही इधर-उधर भटकता रहता। मेरिन ड्राइव पर शाम ढलते ही समुद्र उछलने लगता और किनारों पर बड़े-बड़े सीमेन्ट के सितारों से टकराकर लहरें इतनी ऊँची उछलतीं कि उनकी फुआरों से फुटपाथ और आधी दूर तक सड़क भी भीग जाती। फुटपाथ पर चलते हुए वह कई बार उन फुआरों में भीगा था। बंबई एक साफ-सुथरा शहर था। बहन के घर के पास की सड़कें आधी रात के बाद धुलना शुरू हो जातीं। भूलेश्वर का इलाका गुजरातियों का इलाका था। सुबह-सुबह गुजराती महिलाओं के झुण्ड हाथों में पूजा की थालियाँ लिए मन्दिरों की ओर जाते हुए दिखते। बंबई जाना-पहचाना-सा शहर लग रहा था लेकिन स्टेशन से बाहर निकलते ही उसे अजीब से डर ने दबोच लिया। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ने लगा डर बढ़ा होने लगा। उसके अपने कद से भी बढ़ा। घर से भाग आना जितना आसान था, इस डर से बाहर भाग पाना उतना आसान नहीं था। वह जिधर भी कदम बढ़ाता डर उसी

रास्ते पर आकर खड़ा हो जाता। वह समझ नहीं पा रहा था कि वह किधर जाए। डर को गच्चा देकर निकलना कोई आसान काम नहीं था। चाय के एक ठेले पर खड़े होकर उसने एक चाय पी और फिर आगे बढ़ा। उसने रात को भी कुछ नहीं खाया था। सींगदाना और मुरमुरे की एक दुकान उसे दिखी तो उसने एक पुड़िया खरीदी। उसे याद आया कि बहन के घर के नीचे भी एक ऐसी ही दुकान थी जिस पर सींगदाना और मुरमुरे मिला करते थे। मूँगफली के नमकीन दाने उसने पहली बार बंबई में ही खाये थे। उसने पुड़िया से कुछ मुरमुरे और मूँगफली के नमकीन दाने मुँह में डाले। तभी उसे याद आया कि उसने मुँह नहीं धोया है। साथ कोई सामान नहीं था। ब्रश करना भी सम्भव नहीं था। कमीज में जगह-जगह सलवटें पड़ चुकी थीं। कई सवाल एक साथ सर उठाने लगे। वह कैसे मुँह धोयेगा। कपड़े कैसे बदलेगा। फारिग होने कहाँ जायेगा। उसने फुटपाथ पर नजर डाली। उसके पास कोई चादर या बिस्तरा भी नहीं था। रात वह कहाँ बितायेगा। फिल्मों में देखे बंबई की फुटपाथों के कई दृश्य उसकी आँखों के आगे घूमने लगे। उसे लगा दिन अगर किसी तरह कट भी गया तो रात कहाँ काटेगा? उसने अपने बगल में खड़े डर की तरफ देखा, डर उससे बड़ा हो चुका था। डर का कद बढ़ रहा था या उसका अपना कद छोटा होता जा रहा था, कहना मुश्किल था। उसने अपने ही डर के बगल में खड़े होकर अपना कद नापने की कोशिश की तो पाया कि वह अपने डर के कान तक भी नहीं आ पा रहा था। वह डर के बगल से हट गया लेकिन एक पल बाद ही डर फिर उसके बगल में आकर खड़ा हो गया। वापस लौटने के रास्ते में उसका अहम् खड़ा था। बहुत देर तक अपने अहम् से लड़ने-झगड़ने के बाद उसने तय किया कि वह बहन के घर जायेगा। उसने मन ही मन एक कहानी बनाई और बहन के घर की तरफ चल पड़ा।

सारे रास्ते वह मन ही मन एक कहानी बनाता रहा जिसे बहन के घर जाते ही उसे सुनाना था। बहन के घर पहुँचते-पहुँचते काफी समय हो चुका था। बहन के घर के पास पहुँचते हुए वह कई बार रुका। उसने कई बार अपने को रोकने की कोशिश की। कई बार सोचा कि कम-से-कम एक रात वह बंबई की सड़कों पर गुजारकर देखे। बहन के घर जाना ज़रूरी ही होगा तो वह एक दिन बाद भी जा सकता है। लेकिन जैसे ही वह दूसरी तरफ बढ़ने को होता उसका डर उसे धकियाकर आगे बढ़ा देता। उसका डर जो पहले उससे भी दुबला-पतला और कमज़ोर था, देखते ही देखते उससे ज़्यादा तंदुरुस्त हो गया था। डर एक ऐसा परजीवी था जो आपके ही शरीर से अपनी खुराक पाकर आपको कमज़ोर करता जाता है और हर दिन आपसे ज़्यादा ताकतवर होता जाता है। उसने वनस्पतिशास्त्र में परजीवी पौधों के बारे में पढ़ा था। डर लेकिन कोई पौधा नहीं था। वह एक अदृश्य जीव था जो दिखता नहीं था पर था और हर घड़ी महसूस होता था। आप चाहे उसे न छू सकें लेकिन वह जब चाहे आपको छू सकता था।

बहन के घर के सामने ही कबूतरखाना था। सैकड़ों कबूतर सड़क पर डाले गये दानों को चुग रहे थे। कबूतर दाना चोंच में भरते और फड़फड़ाकर छोटी-सी उड़ान भरते। सड़क के शोर पर कबूतरों की फड़फड़ाहट हावी थी। वह एक पल को रुका और पुड़िया में बचे हुए मुरमुरे और सींगदाने उसने कबूतरों के बीच फेंक दिये। कबूतरों में से कुछ कबूतर उड़े और फिर उन मुरमुरों पर टूट पड़े। वह भारी कदमों से बहन के घर की ओर बढ़ गया। बहन दूसरे माले पर रहती थी। वह धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। एक थकान उसके सारे वजूद पर तारी होती जा रही थी। बहन के घर में दो कमरे और एक रसोई का छोटा-सा कमरा था। एक कमरा तीसरे माले पर



था। वह जीजा का अपना निजी कमरा था। उसने बहन के घर का दरवाजा खटखटाया। बहन निकलकर आयी। जीजा घर में नहीं थे। उसने राहत की साँस ली। जीजा का घर में नहीं होना आश्चर्यजनक था। जीजा का इस समय बाहर जाना उनकी दिनचर्या से मेल नहीं खाता था। उनकी दिनचर्या बहुत अजीब-सी थी। वे सुबह उठने के बाद तीन-चार बार बहुत देर तक उबाली हुई कड़क चाय पीते। फिर बहुत देर तक गुसलखाने में घुसे रहते। एक-डेढ़ घंटे में नहाकर निकलते। इसके बाद उनकी पूजापाठ शुरू होती तो वह भी एक-डेढ़ घंटे चलती। लगभग दो या तीन बजे वे सुबह का खाना खाते। दोपहर में वे नियम से सोते और शाम को हाथ-मुँह धोकर तैयार होते। कलफ लगी धोती और रेशमी कुर्ता पहनकर निकल जाते। फिर उनके वापस लौटने का कोई निश्चित समय नहीं था। वे कोने की दुकान पर एक पान खाते। वे मंज़ले कद के और खूब गोरे-चिट्टे थे। पान उनको बहुत रचता था। बहन गप्पी को देखकर चौंकी और फिर उसने कुछ संदेह से उसकी तरफ देखा। उसने जो कहानी बनाई थी धीरे-धीरे अटक-अटककर बहन को सुना दी। बहन ने उस पर कोई खास प्रतिक्रिया नहीं दी। इसी बीच जीजा आ गये थे।

जीजा के आते ही उन्हें एक तरफ ले जाकर बहन ने उनसे जाने क्या कहा। वह उनकी बातें नहीं सुन पाया। जीजा भाँप गये थे। उन्होंने गप्पी से बात करने से पहले भोपाल फोन लगाया और उसके घरवालों को बता दिया कि गप्पी बंबई पहुँच गया है। कुछ देर फोन पर बातें होती रहीं। यह अनुमान लगाना कठिन था कि दूसरी तरफ से क्या कहा जा रहा था।

पहली कहानी जो इतनी अतार्किक थी कि थोड़ी देर में ही तर्कों के सामने ढेर हो गयी। तर्क कल्पना को खेलने के लिए जगह नहीं देता था।

बहन शायद उसकी सुनाई कहानी जीजा को बता चुकी थी। जीजा ने बहुत तसल्ली के साथ उससे एक बार फिर उस कहानी को सुनाने को कहा। उसने एक बार फिर अपनी कहानी को दोहराया कि वह मोतीलाल विज्ञान महाविद्यालय में फीस भरने के लिए पैसे लेकर कॉलेज गया था। कॉलेज जानेवाली सड़क के बगल में ही एक सूखा-सा नाला है। सड़क पर सीनियर लड़कों के झुण्ड देखकर वह डर गया और नाले की तरफ उतर गया। तभी वहाँ दो-तीन लोगों ने उसे रोक लिया और कुछ सुँघाकर बेहोश कर दिया। फिर उन लोगों ने उसे बंबई की ट्रेन में डाल दिया। उसको जब होश आया तो उसने पाया कि वह ट्रेन में है और इस तरह वह यहाँ पहुँच गया। जीजा ने इस मुख्तसर-सी कहानी को सुना और कहा कोई बात नहीं। तुमने पुलिस में शिकायत नहीं की? उसने इंकार में मुंडी हिला दी। जीजा ने एक बार फिर कहा कोई बात नहीं, शाम को बात करेंगे। शाम जीजा एक आदमी को लेकर आये और बताया कि ये सी आई डी में काम करते हैं। तुम सारी बात इन्हें बताओ... फिर देखते हैं कि क्या किया जा सकता है। गप्पी अंदर ही अंदर हार चुका था। वह समझ गया था कि उसकी कहानी में कोई दम नहीं। गप्पी ने बहुत बेमन से एक बार फिर कहानी को दोहराया। उस आदमी ने दो-तीन तर्क किये। उन लोगों ने तुम्हें बेहोश क्यों किया? क्या उनसे तुमसे पैसे छीने? फिर वे बंबई की गाड़ी में तुम्हें क्यों छोड़कर गये? स्टेशन तक वे तुम्हें कैसे लाये? जब तुम्हें होश आया तो तुमसे बोगी में दूसरे लोगों ने कुछ पूछा नहीं? साधारण

से सवालों के आगे ही उसकी कहानी ढेर हो गयी थी। कहानी की पूरी पोल खुल चुकी थी। पहली बार उसे लगा कि तर्क कितनी क्रूर चीज़ है। वह कल्पना को खेलने के लिए कोई जगह ही नहीं देता। वह कल्पना के सारे खिलाँने छीन लेता है। तर्क का मैदान सँकरा होता है उसमें कल्पना न हाकी खेल सकती है न सितौलिया। उसे पहली बार लगा कि उसे कहानी बनाना नहीं आता। वह कहानीकार नहीं बन सकता। फिल्मों के लिए कहानी लिखने का उसका इरादा चौपट हो गया। यह दिन लेखक बनने की उसकी इच्छा की अकाल मृत्यु का दिन था। उसका मन हुआ कि वह सब कुछ सच-सच बता दे। लेकिन उसकी हिम्मत दगा कर रही थी। सच कोई ऐसी कमीज़ नहीं थी जिसे पहनकर आप हमेशा स्मार्ट ही लगें। यह ऐसा सच था जिसे बोलकर उसे अपनी ही नज़रों में अपमानित होना था। पराजित होना था। बहुत बौना हो जाना था। जीजा ने भाँप लिया था कि गप्पी से जवाब देते नहीं बन रहा है। उन्होंने सीआईडी के रूप में परिचित करवाये गये आदमी को रोक दिया और बातों का रुख बदल दिया। कुछ देर बाद वह आदमी चला गया। दूसरे दिन गप्पी ने बहन को सब कुछ बता दिया था।

कबूतर दिन-भर बरामदे में गुटरगूँ करते और  
मन में एक अनिश्चितता कुड़कुड़ाती रहती।  
सामने के घर में एक बूढ़ी कंधी  
करती रहती थी।

घर के नीचे कबूतरखाने के कबूतर दुपहर में उड़कर ऊपर आ जाते। बरामदे में दिन-भर उनकी गुटरगूँ की आवाज़ भरी रहती। शाम

तक बरामदे की मुँडेर उनकी बीट से भर जाती थी। जीजा दो-तीन दिनों में एक बार सुबह-सुबह बाल्टी में पानी और कपड़ा लेकर कबूतरों की बीट साफ करते। उनमें कमाल का धैर्य था। वह बहुत तल्लीनता से घंटों कबूतरों की बीट साफ करते रहते। बीच-बीच में जब वे थक जाते तो उनके लिए चाय बनती। चाय पीते हुए वे कबूतरों को मुँडेर पर बैठने से रोकते रहते। चाय खत्म करके वे वापस बीट साफ करने में जुट जाते। कभी-कभी जीजा की माँ और उनकी विधवा चाची भी बंबई आ जाती थीं। चाची सुन्दर भी थीं और बहुत मजेदार भी। जीजा की उनसे अक्सर ही खटपट चलती रहती। चाची बहुत कम उम्र में ही विधवा हो गयी थीं। उनकी कोई संतान नहीं थी। जीजा से जब ज़्यादा खटपट हो जाती तो वह सौरों चली जातीं या देवास। उन्हें बहुत सारी पहेलियाँ याद थीं। खासकर द्विअर्थी पहेलियाँ। गर्मी के दिन थे। चाची गप्पी के चौकवाले घर में आयीं थीं। कई बार वह बंबई जाते या बंबई से देवास लौटते हुए भोपाल आतीं तो गप्पी, के यहाँ चली आती। गर्मी के दिनों में सब छत पर सोते थे। शाम के बाद छत पर पानी छींटकर ठंडा कर दिया जाता और बिस्तर लगा दिये जाते। बिस्तर लगे थे—गप्पी में और चाची छत पर थे। चाची ने कहा चलो एक पहेली बताओ... अरी री...मरी री...पूरा किया जब...चैन पड़ी तब। मैं और गप्पी बड़े हो रहे थे। हम लोग चाची के मुँह से ऐसी पहेली सुनकर झेंप गये। चाची ने कुछ देर मज़ा लिया और फिर कहा...अरे इसका मतलब है चूड़ी पहनाना। जब चूड़ी पहनानेवाला किसी औरत के हाथ पर चूड़ी चढ़ाता है तो वो इसी तरह की आवाज़ निकालती है और जब चूड़ी चढ़ जाती है तो उसे चैन आ जाता है। बस इतनी ही बात है। चाची ने आँख में अजीब सी शरारत भरकर हमें देखा और हँस पड़ीं। पिछली बार जब गप्पी बंबई आया था तब चाची बंबई में ही थीं। उन्हीं ने पहली बार कमला नेहरू पार्क में बने बड़े से जूते की

कहानी उसे सुनाई थी। चाची को ऐसी बहुत सारी कहानियाँ याद थीं। वह हर कहानी कुछ इस अंदाज़ में सुनातीं जैसे कोई जासूसी कहानी सुना रही हों। जीजा के घर के सामने सड़क के दूसरी तरफ एक घर था जिसके छज्जे पर अक्सर एक अधेड़-सी औरत कंधा लिए बाल ओँछती रहती। रात को जब बिजली जलती तो जीजा के बरामदे से उसके घर का आगे का कमरा पूरा दिखाई पड़ता। उसके कमरे में रखा रेडियो बजता रहता। कभी-कभी वह रेडियो की आवाज़ बढ़ा देती। वह औरत अक्सर जीजा के घर की तरफ देखती रहती और जैसे ही कोई उसकी तरफ देखता वह कुछ काम करने लगती। जीजा के पिता ने आत्महत्या की थी। पुलिस में मामले को रफा-दफा करने के लिए कहा गया कि वह स्टोव जला रहे थे और अचानक ही स्टोव भभक गया। अचानक उनके कपड़ों में आग लग गयी। घर में कोई नहीं था। इसलिए उन्हें बचाया नहीं जा सका। एक क्रिस्सा यह भी था कि जीजा के पिता बहुत बड़े ज्योतिषी थे। उनकी एक भविष्यवाणी विफल हो गयी और उन्होंने डिप्रेशन में आकर आत्महत्या कर ली थी। लेकिन दबी ज़बान से यह भी कहा जाता था कि सामनेवाली औरत के चक्कर में ही उन्होंने आत्महत्या की थी। जीजा की माँ अक्सर जीजा के साथ नहीं रहती थीं। जीजा जब बंबई में रहते तो उनकी माँ सौरों में रहती थीं। कभी-कभी जब वे बंबई आतीं तो जीजा घूमने निकल जाते।

गप्पी बेचैन था। समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे। कभी-कभी उसका मन करता कि वह चुपचाप यहाँ से भी भाग जाये। पर हिम्मत नहीं होती। एक बार की विफलता ने ही उसे अंदर से तोड़ दिया था। जीजा इस बेचैनी को समझ रहे थे। इसलिए उन्होंने कहा कि अगर वह भोपाल नहीं जाना चाहता है तो वे उसे बंबई में ही दाखिला दिला देंगे। उसे जीजा की बात पर थोड़ा-थोड़ा भरोसा भी होता।

लेकिन बीच-बीच में जीजा यह भी समझाते कि बंबई के कॉलेज में दाखिला मिलना बहुत आसान नहीं है। भोपाल की पढ़ाई और बंबई की पढ़ाई में भी बहुत फरक है। फिर मार्कशीट और टीसी वगैरह तो भोपाल से लाना ही पड़ेगी। कुछ दिन बाद जब एक दिन गप्पी के मंझले भाई उसे भोपाल ले जाने को आ गये तभी उसे पता चला कि जीजा उसे सिर्फ रोके रखने के लिए ही इस तरह की बात कर रहे थे। मंझले के आते ही सारी कहानी का पटाक्षेप हो गया।

समुद्र में उठा ज्वार थम चुका था। समुद्र वापस बड़े तालाब में बदल गया था। एक शाम गोहर महल की सीढ़ियों पर सिगरेट पीते हुए डुग्गी ने कहा अपना तालाब अपना तालाब है, समुद्र कितना ही बड़ा क्यों न हो पर समुद्र किसी का अपना समुद्र नहीं होता। उदासी अब अनमनेपन में बदल चुकी थी। यह एक ऐसा अनुभव था जिसने गप्पी को पूरी तरह बदल दिया था। अब वह पहलेवाला गप्पी नहीं था।

साधू बनने को भेजा गया लड़का कव्वाल  
होकर लौटा। आवारगी के सिवा  
किसी के पास कोई काम नहीं था।

गप्पी के लौट आने के बाद घर में तनाव बढ़ता जा रहा था। गप्पी को लगता वह एक पराजित व्यक्ति है। कभी-कभी उसे लगता जैसे घर में सब उसका मजाक उड़ा रहे हैं। कई बार भाइयों से झड़प हो जाती। वह ज़्यादा से ज़्यादा वक्त घर के बाहर गुजारने लगा था। इस बात पर भी आये दिन झगड़े होते। न वह बाहर रह पा रहा था न घर के अंदर। वह घर में होता तो उसका दिमाग बाहर भटकता

रहता और बाहर दोस्तों के बीच होता तो अचानक वह कहीं अपने ही अंदर गायब हो जाता। इन्हीं दिनों डुग्गी ने एक दिन बताया कि जगदीश लौट आया है। जगदीश मावेवाले नेमा का लड़का था। वह अक्सर स्कूल से भाग जाता। उसका मन पढ़ाई में नहीं था। आये दिन स्कूल से उसकी शिकायतें आतीं। एक दिन तंग आकर उसके पिता ने उसे सुधारने के लिए किसी आश्रम के गुरुकुल में भेज देने का निर्णय ले लिया। वह बहुत रोया। बहुत जिद की पर तब वह छोटा था। उसकी एक न चली। जिस दिन वह जा रहा था, दोस्तों के साथ गप्पी भी उसे विदा करने गया था। वह पीले रंग में रँगी धोती पहने था। बदन पर ऊँची-सी बंडी थी। बाल एकदम छोटे-छोटे कर दिये गये थे। एक लम्बी-सी चुटइया थी जिसमें गाँठ लगी हुई थी। उसकी इस हालत को देखकर हँसी भी आ रही थी और दुख भी हो रहा था। जगदीश बहुत उदास था। दोस्तों को देखा तो वह झेंप गया। उसने आँसू रोके और मुँह फेर लिया। वह चला गया। बरसों से उसका कोई पता नहीं था। हम लोग भी धीरे-धीरे उसे भूल-सा गये थे। जगदीश लौटा तो वह पूरी तरह बदल चुका था। चौक में जब वह मिला तो उसके बाल बड़े हुए थे। अच्छी-खासी दाढ़ी-मूँछ थी। मस्जिद की सीढ़ी पर बैठा वह सिगरेट में निकाले हुए तम्बाकू को वापस भर रहा था। उसने सिगरेट जलाई तो रहस्य खुला कि वह गाँजा भर रहा था। उसने कश लगाया और हम लोगों की तरफ देखा। उसकी आँखों में एक अजीब-सी चमक कौंधी। उसने गाँजे की सिगरेट हम लोगों की तरफ बढ़ाई लेकिन सबने इंकार में मुंडी हिला दी। उसका गला बचपन से ही बहुत अच्छा था। बातों का पिटारा खुला तो पता लगा कि वह आश्रम से बहुत पहले ही भाग गया था। इस बीच वह कई साल कव्वालों की सोहबत में रहा था। मस्जिद की सीढ़ियों से लगी भत्ते भाई के पिता की चाँदी की दुकान थी। उसकी छत पर बैठकर उस दिन पहली बार जगदीश ने कव्वाली

सुनाई थी। कुछ अच्छी कव्वालियाँ उसे याद थीं लेकिन बीच-बीच में जब वह तरंग में आता तो नॉनवेज याने कुछ अश्लील कव्वालियाँ भी सुनाता। आश्रम के अनुशासन में कुछ ही दिन बिताने की इतनी तीखी प्रतिक्रिया उसके व्यक्तित्व में हुई थी कि उसने जगदीश को पूरी तरह आवारा बना दिया था। डुग्गी में और गप्पी के अलावा भी चौक के कई दोस्त अक्सर इकट्ठे होकर उससे कव्वाली सुनते थे। कुछ दिन बाद ही लेकिन उसने दोस्तों से जब-तब पैसे माँगना शुरू कर दिया था। वह कई बार लम्बे-चौड़े बहाने बनाकर दोस्तों से पैसे माँग लेता। शुरू-शुरू में तो दोस्त उसे पैसे दे देते लेकिन जल्दी ही सब समझ गये थे कि पैसे माँगना उसकी आदत हो गयी है। इसलिए दोस्त उससे कटने लगे थे। जगदीश और गप्पी दोनों ही घर से भागे थे। दोनों के भागने में लेकिन एक फ़र्क था। गप्पी घर से भागा था और जगदीश गुरुकुल से। लेकिन एक समानता भी थी कि दोनों लौट आये थे। दोनों के मन पराजित थे। इसलिए दोनों में थोड़ी नज़दीकी बढ़ गयी थी।

जगदीश पूरी तरह आवारा हो चुका था। शहर की कई वेश्याओं से उसकी दोस्ती थी। वह कोठों पर पड़ा रहता। शहर में एक इलाका था जिसमें वेश्याओं के कोठे थे। इसी मोहल्ले में एक बहुत खटारा-सा टाकीज़ था—लक्ष्मी टाकीज़। इसलिए पूरे इलाके का नाम ही लक्ष्मी टाकीज़ हो गया था। लक्ष्मी टाकीज़ का मतलब वेश्याओं का मोहल्ला हो गया था। लक्ष्मी टाकीज़ में हमेशा ही सी ग्रेड फिल्में लगती थीं। इस टाकीज़ में फिल्म देखने का अलग ही मज़ा था कि आप बालकनी का टिकट ले लें और जब फिल्म में बोर होने लगे तो बाहर की बालकनी में निकल आये और सामने के कोठों पर चलता नाच देख लें। अक्सर लोग फिल्म के बीच सिगरेट पीने को निकलते और बालकनी में सिगरेट पीते हुए सामने के कोठों पर



चलते नाच का मजा लेते। सामने की कतार के पीछेवाली कतार के कोठों का भी दृश्य बालकनी से नज़र आता था। लक्ष्मी टाकीज़ में टिकट सस्ता था इसलिए कभी-कभी जब पैसे कम होते और फिल्म देखने की इच्छा ज़्यादा ही कुलबुलाने लगती तो हम लोग लक्ष्मी टाकीज़ चले जाते। मैटिनी शो में कभी-कभी वहाँ अच्छी फिल्में भी लग जाती थीं। हंटरवाली छाप कई फिल्में हमने इस टाकीज़ में देखी थीं। जगदीश के पिता उसे दुकान पर बैठाने की कोशिश करते। पर वह मुश्किल से ही हाथ आता था। कभी-कभी जब घेरघारकर उसे दुकान पर बैठा ही दिया जाता तो वह गल्ले से रुपये मारकर दुकान से भाग जाता। उसकी उस दिन ख़ूब पिटाई होती। पर अब उस पर पिटाई विटाई का कोई खास फ़र्क़ नहीं पड़ता।

दोस्तों का एक ऐसा ग्रुप तैयार हो चुका था जिसमें सभी ने यह तय कर लिया था कि उनको इस साल पास नहीं होना है। इम्तहान में नहीं बैठने का निर्णय सामूहिक था इसलिए इम्तहान के दिनों में इस ग्रुप का एक ही काम था कि वह कॉलेज में इम्तहानवाले हॉल के बाहर झुण्ड बनाये खड़ा रहता। सीनियर्स खिड़की के रास्ते पेपर बाहर भेज देते और यह ग्रुप किताबों से उसके उत्तर तैयार करके पर्चियाँ किसी तरह अंदर पहुँचाता। सारे दोस्त कॉलेज समय पर आते पर क्लास में कभी भूले से ही कोई जाता था। जाते भी थे तो किसी न किसी प्रोफेसर को तंग करने ही जाते या जब कोई जवान और नई लेडी टीचर कॉलेज में आती तो एक दिन सब तय करके उसकी क्लास में ज़रूर जाते। क्लास में जाते भी तो कुछ ही देर में एक-एक कर सब बाहर आ जाते और केन्टीन में पहुँच जाते। सारा दिन केन्टीन में बैठकर कुर्रा खेलते और चाय और भजिये खाते रहते। कॉलेज से लौट कर सारी दोपहर पटियों पर बीतती। कुछ देर को घर लौटते और शाम होते-होते वापस सब इकट्ठे हो जाते। फिर

रात तक पटियों पर शतरंज होती रहती।

क्रिस्सा दारूलकुहला का उर्फ हम एक पुरानी परंपरा के नए उत्तराधिकारी थे। दिलीप कुमार और दारा सिंह की फिल्में और रातभर खुली रहनेवाली पोकर की चाय की दुकान।

फालतू लड़कों की इस टोली का एक ठिकाना जामा मस्जिद की सीढ़ियाँ थीं। जामा मस्जिद के सामने एक पुलिस चौकी थी। उसी के बगल में कुर्ते की जेब की तरह अंदर की ओर धँसी हुई एक चाय की दुकान थी। दुकान में एक अंदर की तरफ धँसा हुआ कमरा था। गप्पी के ज़्यादातर दोस्त ऐसे थे जिनके पिताओं की चौक में ही दुकाने थीं। इसलिए छिपकर सिगरेट और चाय पीने के लिए इस अंदर की तरफ धँसे कमरे में ही बैठा जाता था। इस दुकान को पोकर की दुकान कहा जाता था। यह दुकान कभी बंद नहीं होती थी। इम्तहान के दिनों में आधी रात को सब यहीं चाय पीने आते थे। हालाँकि पोकर के तीन भाई और थे। बड़ा श्याम था। मंझला पोकर था। उससे छोटा हरीश था और सबसे छोटा किशन था। श्याम और हरीश थोड़े खडूस थे। पोकर सीधा था और ज़्यादा मिलनसार भी। दुकान उसके व्यवहार के कारण चलती थी या किशन के कारण। किशन थोड़ा जनखों जैसा था। वह अजीब मटककर चलता। आँखों में सुरमा लगाये रहता। वह गोरा था, कम उम्र भी और भोपाली में जिसे चिकना कहते हैं वैसा चिकना भी। मनचले दोस्त और पुलिसवाले उससे छेड़छाड़ भी करते रहते। वह भी इस छेड़छाड़ के जवाब में जनखों की तरह हरकतें करता। कभी-कभी जब दुकान में कोई नहीं

होता तो पुलिसवाले उसके गाल पर चिकोटी काट लेते। पुलिस चौकी में जब सूनापन होता तो पुलिसवाले उसे चाय के बहाने बुला लेते। रात को वह घर लौटता तो कोई न कोई उसके पीछे लगा होता। उसका घर दुकान से थोड़ी दूर पुरानी सब्जी मंडी के पास था। एक रात गप्पी भी उसका पीछा करते हुए उसके घर की अँधेरी गली तक गया था। उसके बाद क्या हुआ यह बात बहुत कुरेदने के बाद भी कभी गप्पी ने नहीं बताई। दुकान में सबका खाता चलता था। दोस्तों का ख्याल था कि पोकर हिसाब की कॉपी में गड़बड़ी करता है और पैसे बढ़ा देता है। कभी-कभी दोस्त उसके हिसाब की कॉपी पार करके उसके पृष्ठ फाड़ देते। कुछ दिन चिकचिक होती फिर सब कुछ पहले जैसा हो जाता। घंटों वहाँ बैठकर गप्पी और उसके दोस्त माचिस का कुरा खेलते। माचिस को टेबल के किनारे पर तिरछा रखा जाता। एक कोना जो बाहर निकला होता उसे अंगूठे से हिट करके उछाला जाता। माचिस चित गिरती तो एक प्वाइंट। आड़ी खड़ी हो जाती तो पाँच प्वाइंट और सीधी खड़ी हो जाती तो दस प्वाइंट मिलते थे। कभी-कभी बीच में एक खाली गिलास रख दिया जाता और माचिस अगर गिलास में चली जाती तो पच्चीस प्वाइंट मिलते। जो इस कुरे में हारता उसे सबकी चाय का भुगतान करना पड़ता।

शाम को दूसरा अड्डा इतवारे में भूरे की चाय की दुकान थी। भत्ते भाई के चाचा कम्युनिस्ट पार्टी में थे। इसलिए उनके चाचा को सभी चाचा कहते थे। कामरेड बालकिशन गुप्ता भोपाल विलीनीकरण के नेता थे। कम्युनिस्ट पार्टी को कुँआरों की पार्टी कहा जाता था। उसमें सारे नेता कुँआरे थे। सबसे पहले बड़ी उमर में बालकिशन गुप्ता ने ही शादी की थी। डुग्गी कम्युनिस्ट नहीं था। कम्युनिस्ट कोई भी नहीं था। हम कम्युनिस्ट का मतलब भी नहीं जानते थे। लेकिन चाचा के चलते कभी-कभी चुनाव के दिनों में जब कोई काम बता दिया जाता

तो बिना किसी हुज्जत के सब पार्टी का काम करते। आसपास के मोहल्लों में पार्टी की पर्चियाँ बाँट आते। कम्युनिस्ट पार्टी के ऑफिस के सामने के खुले हिस्से को लाल चौक कहा जाता था। हालाँकि आम बोलचाल में कोई उस चौक को लालचौक नहीं कहता था। सब उसे इतवारा चौक ही कहते थे। यही उसका असली नाम था। अक्सर इस लाल चौक पर ही कम्युनिस्ट पार्टी की मीटिंगें होती थीं। कम्युनिस्ट पार्टी की मीटिंग शुरू होने से पहले कामरेड हबीब माइक सँभाल लेते। छोटा-मोटा भाषण देते। जब कुछ लोग आकर सामने बिछी दरियों पर बैठने लगते तो शहर के दो मशहूर शायर कैफ़ भोपाली और ताज भोपाली अपना कलाम सुनाया करते। समा बँध जाता और जब भीड़ इकट्ठी हो जाती तो मीटिंग शुरू होती। कैफ़ भोपाली का एक कता और एक गीत उन दिनों बहुत लोकप्रिय था।

कैफ़ भोपाली की आवाज़ बहुत बुलन्द थी। वह ऊँचे पूरे कद्दावर पठान थे। तरन्नुम में अपनी ग़ज़ल पढ़ते थे। ग़ज़ल से पहले वे एक क्रता सुनाते...

न प्यार न मोहब्बत की बात करते हैं  
फ़क़त अनाज की किल्लत की बात करते हैं  
ये कम्युनिस्ट गद्दार सालों को जेल में ठूँस दो  
कि बगावत की बात करते हैं।

इसके बाद उनका चर्चित गीत हवाओं में गूँजने लगता—

हैया रे हैया  
भूखा है बाबा नंगी मैया। हैया रे हैया...

इस गीत का एक दिलचस्प हिस्सा था—

कालिज बनाये स्कूल बनाये  
लड़कन को उसमें पढ़वे बिठाये  
जैसे हैं मास्टर वैसे पढ़ैया...हैया रे हैया।

डुग्गी ने एक दिन कहा कि हम सब तो दारुलकुहला के सदस्य हैं...। दारुलकुहला के बारे में हम लोग नहीं जानते थे। चाचा का एक घर खाली था। वह भत्ते भाई के पास था। उन्होंने उसका एक कमरा खोल दिया था कि सब लोग यहीं बैठकर पढ़ा करेंगे। पढ़ना किसी को नहीं था। लेकिन वहाँ बैठा जाने लगा। डुग्गी ने एक दिन कहा यह हमारा दारुलकुहला है। एक दिन शायद कामरेड हबीब ने या मथुरा बाबू ने हमें दारुलकुहला का क्रिस्सा सुनाया था।

बात हम लोगों के पैदा होने के भी तेरह-चौदह साल पहले की थी। 1932 में जिगर मुरादाबादी भोपाल आये थे। जिगर साहब आये तो शहर के शायरों की महफिलें जमने लगीं। काहिली और कविता के बीच कोई अज्ञात-सा रिश्ता ज़रूर था। शायरों को निकम्मा माना जाने का चलन आम था। ताज भोपाली अक्सर एक शेर सुनाते...रख के दीवाँ बगल में अपने मीर/पूछते फिरिये काम...शायर का। उनका खुद का भी एक शेर था...किया है इश्क गज़ल भी कही, शराब भी पी/ गरज़ गुजार ली मैंने तो शायरों की तरह। जिगर साहब की महफिलें सारी-सारी रात चलती थीं। जिगर साहब थोड़े बेतकल्लुफ आदमी थे। उनकी शरारतें बाहर निकलने को मचल रही थीं। जब रहा न गया तो एक दिन उन्होंने मुहम्मद अली खाँ से अपनी कसमसाहट का जिक्र किया। कई दिनों तक सिर खपाने के बाद एक दिन यह तय पाया गया कि एक अंजुमन-उल-कुहला बनाई जाए। इसमें छोटे-बड़े

का फ़र्क़ न हो। अंजुमन का समय रात 9 बजे से सुबह 3 बजे तक मुकर्रर किया गया। जौहर कुरैशी ने बिला वक़्त लगाये अपने मकान के निचले हिस्से में एक कमरा इस अंजुमन के लिए दे दिया। इस जगह का नाम रखा गया दारुलकुहला। काहिलों का यह अपने ढंग का हिन्दुस्तान का पहला क्लब था। इसके लिए भोपाल से ज़्यादा मुफ़ीत कोई शहर हो भी नहीं सकता था। स्टेट के उस दौर में शहर और शहर में कामधंधों की जो हालत थी उसमें काहिली से ज़्यादा बेहतर कोई विचार नहीं हो सकता था। दारुलकुहला का एक ही मव्‌सद था। काहिली को आम करना और फैलाना। अच्छा खासा क्रिस्सा चल रहा था। डुग्गी ने इतनी जोर से वाह की कि सब चौंक गये। डुग्गी की इस वाह ने घुरू मियाँ की याद दिला दी। घुरू मियाँ छह फुटे लहीम-शहीम आदमी थे। मजाहिया शायरी करते और उनकी एक टेलरिंग की दुकान थी। उनकी टेलरिंग के बारे में अक्सर यह मज़ाक चलता था कि वो लोगों के कपड़े अपने नाप से सी देते हैं। किसी महफिल में अगर घुरू मियाँ होते तो उनकी वाह वाह अलग से ही सुनाई देती। उनकी दाद आती तो पढ़नेवाला शायर कुछ देर को अचकचा सा जाता, समझ नहीं पाता कि कि घुरू मियाँ तारीफ़ कर रहे हैं या मज़ाक उड़ा रहे हैं। कोई नया जमूरा पढ़ रहा होता तो वह अपना शेर भूल जाता।

दारुलकुहला का एक लाइन का संविधान था और उसकी फीस एक तकिया या एक ईट थी। हर मेम्बर को अपना सिर टिकाने के लिए अपना तकिया या अपनी ईट लेकर आना होता था। एक लाइन का संविधान था कि लेटा हुआ, बैठे हुए को और बैठा हुआ खड़े हुए को हर हुक्म दे सकता है। मेम्बरान आते तो दरवाजे से ही रेंगते हुए अंदर दाखिल होते। गलती से अगर कोई बैठा हुआ दिख जाता या गफलत में कोई खड़े-खड़े दाखिल हो जाता तो उसकी शामत आ

जाती। लेटे हुए मेम्बरान उस पर हुक्मों की बारिश कर देते। मियाँ जरा हुक्का भर दीजिए...जरा पान ले आइये...पानी पिला दीजिए... वगैरह-वगैरह। इस नियम को हर मेम्बर को मानना जरूरी था। काहिली का यह आलम था कि कहते हैं एक बार मौलवी मेंहदी साहब लेटे-लेटे हुक्का पी रहे थे। इत्तफाक से किसी का हाथ लगा और अंगारों से भरी चिलम उनके सीने पर गिर गई। मगर साहब उन्होंने हरकत न की। आहिस्ता-आहिस्ता एक तरफ सरके और थोड़ा तिरछे होकर सारे अंगारे नीचे गिरा दिये। यह क्रिस्सा शरक्री खालिदी ने बयान किया है। दारुलकुहला में लेटे-लेटे ही गजल पढ़ी जाती और लेटे-लेटे ही दाद दी जाती। इस क्लब के सदर जिगर मुरादाबादी थे और चार ओहदेदार थे। महमूद अली खाँ क्योंकि इसके संचालक थे इसलिए उन्हें इसका सेक्रेट्री याने नाजिमुलकुहला बनाया गया। गुलाम हुसैन खाँ को नक्रीबुलकुहला कहा गया। उनकी आवाज़ बुलंद थी इसलिए उन्हें यह काम सौंपा गया। मौलवी मुहम्मद मेंहदी को उम्मुलकुहला का खिताब दिया गया। हँसते समय उनका पेट हिलता था। इसी तरह हर मेम्बर का नाम रखा गया था। जो कद में छोटे थे उन्हें फ़ितनातुलकुहला। जिनका पेट गुम्बद की तरह था उन्हें कुब्बतुलकुहला। जो बहुत गोरे थे उन्हें सबीहुलकुहला और कामरेड खान शाकिरअली खान को जो बहुत लम्बे थे तवीलुलकुहला का खिताब दिया गया।

उन दिनों भोपाल में पंजाबियों का जोर बढ़ गया था। पता नहीं पंजाबियों और भोपालियों में किस बात पर ठन गई थी। भोपाली गुस्से में थे। इसी दौरान सुबहे-वतन नाम का एक अखबार निकला और उसने इस फूट को और बढ़ा दिया। दारुलकुहला में इस गुस्से के इज़हार की गूँज जिगर साहब के दो शेरों में भी सुनाई देती है।

बेताब है बेख्वाब है मालूम नहीं क्यों  
दिले माही बे आब है मालूम नहीं क्यों

इसी ग़ज़ल के आगे के शेरों में भोपालियों के उस दौर के गुस्से का भी पता चलता है।

भोपाल की गलियों में जिधर देखिए हर सू  
पंजाब ही पंजाब है मालूम नहीं क्यों।

यू पी भी है, सी पी भी है सूबे तो बहुत हैं  
एक सूबा ए पंजाब है मालूम नहीं क्यों।

क्रिस्सा जिगर साहब के जिस शेर पर खत्म हुआ उसके आखिरी शब्द बहुत दिनों तक सबकी ज़बान पर चढ़ गये थे। एक मजेदार-सा तकियाकलाम हो गया था...मालूम नहीं क्यों? बात-बेबात इस आधे टुकड़े का इस्तेमाल होता। डुग्गी ने कहा दिलीप साहब की फिल्म लगी है, चल रहे हो? मैंने और गप्पी ने एक साथ कहा—नहीं। डुग्गी ने कहा फिकर मत करो, टिकट के पैसे मैं दूँगा। उसे पता था कि हमारी जेबें हमेशा ही तंग रहती थीं। हम उसकी जेब को निचोड़कर ही अपने शौक पूरे किया करते थे। लेकिन गप्पी ने कहा—नहीं। इस नहीं का मतलब नहीं, नहीं था। डुग्गी ने कुछ चिढ़कर पूछा—क्यों? गप्पी बोलता तभी सबने एक साथ कहा—मालूम नहीं क्यों? सब हँस पड़े। डुग्गी दिलीप कुमार का फेन था। उसे लगता था कि वह दिलीप कुमार की तरह लगता है। उसे दिलीप कुमार के अंदाज़ में अलग-अलग मुद्राओं में फोटो खिंचवाने का शौक था। दिलीप कुमार की कोई फिल्म लगती तो वह पहले दिन देखता। दिलीप कुमार के खिलाफ कोई कुछ बोलता तो वह चिढ़ जाता। टाकीज़ पर जब टिकट खरीद लिए जाते तो सुभाष मुँह बनाकर कहता—दिलीप कुमार कैसा



बंदर की तरह लगता है। डुग्गी बुरी तरह उखड़ जाता और गुस्सा होकर टाकीज़ से चल देता। दोस्त किसी तरह उसे मना कर लाते।

वह वापस आता और सबको डाँटकर कहता अब अगर किसी ने दिलीप साहब के बारे में कोई जुमला कसा तो वह बिना फिल्म देखे चला जायेगा। सब चुप हो जाते और मुँह घुमाकर हँसते। दिलीप कुमार दूसरे दोस्तों को भी पसंद था लेकिन डुग्गी को चिढ़ाने में सबको मज़ा आता। दोस्त दिलीप कुमार के तोड़ पर दारा सिंह की तारीफ़ करते। शहर में कभी-कभी एक साथ दिलीप कुमार और दारा सिंह की फिल्म लगती, डुग्गी दिलीप कुमार की फिल्म चलने को कहता तो सारे दोस्त दारा सिंह की फिल्म का प्रस्ताव रख देते। इस पर कई बार बहुत झें-झें होती। पता नहीं वह कौन-सा साल था। दारा सिंह ने अपनी सौ फिल्म पूरी की थीं। उनका एक इन्टर्व्यू किसी अखबार में छपा था। उसमें दारा सिंह से साक्षात्कार लेनेवाले ने पूछा था कि आपको क्या स्टंड फिल्मों का दिलीप कुमार कहा जा सकता है? दारा सिंह ने कुछ मज़ाक में कहा—नहीं, आप चाहें तो दिलीप कुमार को सामाजिक फिल्मों का दारा सिंह कह सकते हैं। इस वाक्य को कौन कहाँ से पढ़कर आया था, पता नहीं। लेकिन इस एक वाक्य ने दोस्तों की बाँछें खिला दी थीं। जब भी डुग्गी दिलीप कुमार की तारीफ़ करने लगता दोस्त दारा सिंह का यही वाक्य दोहरा देते।

सीहोर के कॉलेज में एक साल। सीहोर वाली चाची। 1857 की क्रांति के क्रिस्से और शतरंज का जोरी का खेल।

घर में एक तनाव था जिसके चलते हर घर कभी रबर की तरह तन जाता था। इसी के बीच किसी तरह गप्पी ने अपना फर्स्ट ईयर पास कर लिया था। सेकेण्ड ईयर में दाखिला लेने की तैयारी ही हो रही थी कि एक दिन पिता ने गप्पी को बुलाकर कहा कि अब आप इस शहर में रहने लायक नहीं हैं। आप जाकर सीहोर कॉलेज में दाखिला ले लीजिए। पिता जब गुस्से में होते तो उनकी आवाज़ का पिच बहुत सपाट हो जाता। तुम की जगह वे आप कहने लगते। पिता का यह फैसला गप्पी के लिए बहुत अप्रत्याशित था। गप्पी गड़बड़ा-सा गया। शहर में कम-से-कम चार दोस्तों का सहारा था। पर पिता का निर्णय मान लेने के अलावा कोई चारा नहीं था। पिता बहस नहीं करते थे सिर्फ फैसला सुनाते थे और उनके निर्णय बदलते नहीं थे। पिता सीहोर जाकर गप्पी की फीस जमा कर आये थे। सीहोर भोपाल से ज्यादा दूर नहीं था। बस से चालीस-पैंतालीस मिनट का सफ़र था। कभी-कभी तो कॉलेज के लड़के हिम्मत करके साइकिलों से फिल्म देखने भोपाल चले आते। एक बार दोस्तों के उकसाने पर गप्पी भी साइकिल से चला आया पर लौटते हुए उसकी हिम्मत जवाब दे गयी। दोस्तों ने एक ट्रक को रुकवाया और सब अपनी साइकिलों के साथ उसमें सवार हो गये। इस रास्ते पर चलनेवाले ट्रक छात्रों को पहचानते थे इसलिए कभी-कभी जब वे खाली होते कॉलेज के लड़कों को बिठा लेते। बस का किराया इस तरह बच जाता। नाके के पास ही कॉलेज था और उसी के बगल में हॉस्टल था। दो मंजिला हॉस्टल में मुश्किल से कुछ ही लड़के थे। सारे लड़के आसपास के गाँव के थे। सिर्फ एक प्रमोद मनावत था जो इन्दौर से आया था। वह थोड़ा नकचढ़ा था। उसके भी घरवालों ने उसकी आदतों से तंग आकर उसे सीहोर भेजा था। इसलिए कुछ दिन बाद उसकी और गप्पी की दोस्ती हो गयी। शाम होते ही हॉस्टल में सन्नाटा हो जाता। हॉस्टल का मैस कुछ दिन चलता फिर मैस चलानेवाले और लड़कों

के बीच झगड़ा हो जाता और मैस चलानेवाला छोड़कर चला जाता। नाके के पास सड़क की एक तरफ पंजाबी ढाबा था और दूसरी तरफ एक होटल। होटल पर सुबह-सुबह बूँदी और कचौरी मिलती थी। सीहोर की बूँदी और कचौरी भोपाल तक प्रसिद्ध थी। जब मैस बंद हो जाता तो ढाबे में खाना खाना पड़ता। कॉलेज से सीहोर का शहरी इलाका थोड़ा दूर था। कॉलेज के आसपास गन्ने के खेत थे। सीहोर में एक शुगर मिल थी। कभी-कभी तिब्बती साधू भी सड़कों पर दिख जाते थे। दलाई लामा ने अपने कुछ अनुयायियों का सीहोर में हैण्डमेड कागज बनाने का कुटीर उद्योग लगवाया था। बहुत सुन्दर हैण्डमेड कागज बनता था। कॉलेज से थोड़ी दूर पर बस स्टेण्ड था और उसके बाद शहर तक का रास्ता काफी सूना था। शाम के बाद शहर जाना मुश्किल होता था। राहजनी के कई क्रिस्से प्रचलित थे। हालाँकि गप्पी की जेब में इतने पैसे कभी नहीं होते कि लुटने का खतरा हो। लुटने से ज़्यादा मारपीट का डर लगता था। राहजनी करनेवालों के हाथ जब कुछ न लगता तो वे राहगीर से मारपीट करके अपनी भड़ास निकालते। सीहोर जिला था। भोपाल राजधानी बन जाने के बाद भी तहसील ही था। तहसील हुजूर। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में ही अंग्रेजों ने सीहोर में अपना सिविल स्टेशन बना लिया था और सीहोर गवर्नर जनरल के एजेन्ट का हेडक्वार्टर बन गया था। उसमें सेना की एक टुकड़ी रहती थी जिसे भोपाल बटालियन कहा जाता था। वहाँ एक छोटा-सा किला था और उसके बगल में एक मस्जिद थी। इस मस्जिद में लगे शिलालेख में लिखा था कि यह मस्जिद मोहम्मद तुगलक के एक सामन्त मुघीसउद्दीन ने बनवाई थी। गप्पी ने एक दिन दोस्तों से कहा कि अब उसने अपनी राजधानी तुगलकाबाद में बना लेने का फैसला कर लिया है। सारे दोस्तों ने एक स्वर में कहा...और तुम्हारा तुगलकाबाद सीहोर है। डुग्गी ने जोड़ा कि उसे तुगलकाबाद के बजाय मुघीसउद्दीनाबाद

कहा जाना चाहिए। कहा जाता है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों में भोपाल की सिकन्दर बेगम ने इस मस्जिद की मरम्मत करवाई थी। किसी समय सीहोर अपनी बढ़िया मलमल के लिए भी जाना जाता था। अब वह मलमल नहीं थी, बस मलमल के कुछ क्रिस्से थे जो धीरे-धीरे मलमल की तरह ही खत्म हो चले थे।

सीहोर में तेलियों के दो समूह थे और उनमें हमेशा ही तलवारें खिंची रहती थीं। दशहरे पर तेली शस्त्र पूजा करते और फिर पूजा की तलवारें उठाकर कोई न कोई उत्पात मचा देते। मुस्लिम आबादी भी अच्छी खासी थी। तेली नहीं लड़ते तो हिन्दू मुस्लिम के बीच ठन जाती। हॉस्टल में गाँव से आये लड़के जब तब कॉलेज के पास के गन्नों के खेत में घुसकर गन्ने उखाड़ लाते। कॉलेज बगल में होने की वजह से खेतों के मालिक कुछ न कह पाते। बस से आनेवाले लड़के कॉलेज पर बस रुकवाने के लिए हुज्जत करते। कोई बसवाला अकड़ जाता तो उससे झगड़ा होता। एक बार एक बसवाले ने बस धीमी की पर उतरते हुए लड़का गिर गया और उसकी कॉलर बोन टूट गयी, जैसे ही कॉलेज में खबर पहुँची सारे लड़के सड़क पर आ गये। पास के खेत से गन्ने उखाड़-उखाड़कर लट्ठ की तरह घुमाने लगे। सारा रास्ता रोक लिया। बसवाले को पता चला तो उसने बस पुलिस चौकी पर ले जाकर खड़ी कर दी। पुलिस ने आकर लड़कों का समझाया कि उन्होंने ड्राइवर को गिरफ्तार कर लिया है तब जाकर लड़के वापस अपनी क्लास में गये।

नमक चौराहे के पास ही नई सड़क पर गप्पी के चाचा की रेडीमेड कपड़ों की दुकान थी। दुकान के सामनेवाली गली में चाचा का घर था। छुट्टी के दिन गप्पी चाचा के घर चला जाता था। चाची बहुत अच्छी शतरंज खेलती थीं और सीहोर के बारे में क्रिस्से सुनाना

शुरू करतीं तो पूरी दोपहर कब कट जाती पता ही नहीं चलता। चार बजे चाची चाय बनाती और चाय पीकर गप्पी वापस हॉस्टल के लिए निकल जाता। चाचा की दो लड़कियाँ और दो लड़के थे। बड़ी लड़की गप्पी से बड़ी थी। बिंदा जिज्जी की उमर ज़्यादा हो गयी थी। उनकी शादी नहीं हुई थी इसलिए वो ज़्यादा ही पूजापाठ करती थीं। चाचा के घर में ही श्रीजी का मंदिर था। मंदिर की सेवा घरवालों के पास थी। मंदिर की सेवा चाची और बिन्दा जिज्जी ही करती थीं। बाकी बच्चे छोटे थे। सुबह-सुबह कुएँ से पानी खींचकर मंदिर की धुलाई के काम में सारे बच्चों को लगना पड़ता। श्रीजी के मंदिर की सेवा थोड़ी कठिन होती थी। श्रीजी के शृंगार आदि में बहुत समय लगता। चाची की सारी सुबह इसी काम में खर्च होती। दोपहर तक चाची फुरसत में हो जातीं। गप्पी अक्सर दोपहर में ही चाची के घर पहुँचता। पहली बार जब गप्पी चाची के घर पहुँचा तो चाची खूब खुश हो गयीं। उनके कमरे में एक टेबल पर शतरंज बिछी हुई थी। मोहरे भी जमे थे। लग रहा था कि कोई अभी-अभी खेल के बीच से उठ कर गया है। मारे जा चुके मोहरे भी बगल में रखे हुए थे। गप्पी भी शतरंज का शौकीन था। उसने चाची से पूछा यह कौन खेल रहा था। चाची ने कहा मैं और प्रीतम दादा खेल रहे थे। प्रीतम दादा गप्पी की माँ के फुफेरे भाई थे। गप्पी को प्रीतम मामा बहुत पसंद थे। वो बहुत मजेदार व्यक्ति थे। वो जितनी देर रहते उतनी देर हँसाते रहते। उन्हें शास्त्रीय संगीत बहुत पसंद था। वो गाते भी अच्छा थे लेकिन शास्त्रीय संगीत का मज़ाक भी खूब बनाते रहते। एक दिन उन्होंने सा रे गा मा पा धा नी सा की कई पैरोडी बनाई थी। सा ले ग धे पा नी पी जा। दूसरी थी...सा रे दि न से पा दा नि था...। गप्पी और उसके भाई अक्सर उन पैरोडियों को दोहराते रहते।

प्रीतम दादा कहीं नहीं दिख रहे थे। गप्पी ने पूछा तो चाची ने बताया कि वो तो छह-सात महीने पहले आये थे। हम लोगों में जोरी का खेल होता है। जोरी का खेल इतनी आसानी से खत्म नहीं होता। उन्हें वापस जाना था। जब अगली बार आयेंगे तब आगे का खेल होगा। तब तक शतरंज ऐसे ही बिछी रहेगी। प्रीतम दादा जब आते हैं चार-छह चालें होती हैं और फिर चले जाते हैं। यह बाजी तो पिछले दो साल से चल रही है। गप्पी की शतरंज अच्छी थी। नेशनल और इन्टरनेशनल के नियम भी वह जानता था लेकिन जोरी का खेल उसे पता नहीं था। उसे पहली बार पता लगा कि शतरंज में एक जोरी का खेल भी होता है जिसमें जो मोहरा जोरी पर होता है उसे मारा नहीं जा सकता। यह खेल बरसों तक चलता रहता है। अक्सर उसका कोई नतीजा नहीं निकलता। चाची तब तक दूसरी शतरंज निकाल लायी थीं। उन्होंने गप्पी से पूछा कि वह जोरी का खेल खेलेगा या दूसरा। गप्पी में इतना धैर्य नहीं था। वह कॉलेज में चैंपियन था। उसे लगा एक-दो बाजी खेलकर वह निकल जायेगा। थोड़ी देर में ही चाची ने उसे दो-तीन बार मात दे दी। गप्पी का अपने खेल को लेकर सारा भरम चकनाचूर हो चुका था। गप्पी का छुट्टी का दिन उसके बाद से चाची के यहाँ ही बीतता। कभी-कभी वह भोपाल भाग जाता। भोपाल पहुँचकर भी वह अक्सर अपने घर नहीं जाता। या तो किसी दोस्त के घर रुक जाता या हॉस्टल में किसी दोस्त के यहाँ पड़ा रहता।

अप्रैल, 1857 में लिथोग्राफ पर छपा एक पर्चा बाँटा गया था। चाची ने एक दिन 1857 का क्रिस्ता सुनाना शुरू किया जिसमें अंग्रेजों को देश से निकाल बाहर करने का आह्वान था। पर्चा जैसे ही सिकन्दर बेगम के हाथ लगा उनके पाँव के नीचे से ज़मीन खिसक गयी। शाम होते-होते उन्होंने ब्रिटिश एजेन्ट को इसकी सूचना दे दी।

वो अंग्रेजों की वफादार थीं। उस समय सीहोर मुख्यालय में साठ तोपची थे। 200 घुड़सवार थे और लगभग छह सौ पैदल सैनिक थे। ये सारे सैनिक हिन्दुस्तानी थे। कुल जमा छह अंग्रेज ऑफीसर थे। भोपाल और सीहोर के मुसलमान मन ही मन बहादुरशाह जफ़र के वफादार थे और हिन्दू नाना साहब पेशवा से सहानुभूति रखते थे। एक जुलाई को इन्दौर में विद्रोह हो गया। विद्रोह को कुचलने के लिए 75 सैनिकों की एक टुकड़ी को आदेश दिया गया लेकिन सिर्फ छह सैनिकों ने ही आदेश माना, बाकी सब मुकर गये। 9 जुलाई को सीहोर के पॉलिटिकल एजेन्ट ने अपने 20 यूरोपीयों को साथ लिया और सीहोर छोड़ दिया। कमान सिकन्दर बेगम को सौंप दी। इधर अंग्रेजों का पाँव बाहर निकला और उधर कॉन्टिन्जेन्ट के सैनिकों ने सीहोर कैन्टोन्मेन्ट पर कब्जा कर लिया।

चाय पियोगे...चाची अपना पान लगाने को रुकीं और मुन्नी से कहा कि भैया के लिए चाय बना ला। पान दाढ़ में दबाया और फिर शुरू हो गयीं। चाची इस तरह सुना रही थीं जैसे वह 1857 की क्रांति की चश्मदीद गवाह हों।

सैनिकों ने अंग्रेजों के बंगलों, डाकघर और सीहोर के चर्च में ऐसी लूटपाट मचाई की एक चीज़ भी साबुत नहीं बची। विद्रोहियों का जो नेता था न...शुजात खान पिंडारी, उसने मुख्य अधिकारी को मार डाला। सैनिकों को सिकन्दर बेगम ने आदेश दिया तो सैनिकों ने बेगम का आदेश मानने से ही इंकार कर दिया। इससे पहले कि कोई कार्यवाही हो पाती सीहोर कैवलरी के रिसालदार ने भी विद्रोह

की घोषणा कर दी। विद्रोह को कुचलने के लिए बेगम ने भोपाल से एक टुकड़ी भेजी लेकिन यह टुकड़ी भी विद्रोहियों से जा मिली... बस इतनी ही गनीमत समझो कि उसने सीहोर के खजाने को लुटने से बचा लिया।

दिसम्बर आ गया। विद्रोह दूर-दूर तक फैल चुका था। ह्यूरोज ने आखिरकार विद्रोह को कुचलने की कमान सँभाल ली। पहले बंदी बना लिए गये कई विद्रोही जेलों में अभी तक बंद थे और कोर्ट मार्शल की प्रतीक्षा कर रहे थे। लगभग डेढ़ सौ लोगों को मुजरिम करार कर दिया गया। गोली मार देने के आदेश दे दिये गये। सूर्यास्त हो रहा था। सीहोर का आसमान लाल था तभी सारे कैदियों को जेल से बाहर लाया गया और लाइन में खड़ा कर दिया गया। कहा जाता है कि जब इन एक सौ उनचास कैदियों को गोली मारी गयी तो एक सैनिक पता नहीं कैसे इनमें से बच निकला। वह जो निकल भागा उसका क्या हुआ, वह कहाँ गया? क्या यह वही है जो मुक्तिबोध की कविता में अँधेरे में तैयार कर रहा लश्कर?

चाची क्रिस्सा सुनातीं तो लगता जैसे किसी फिल्म का साउण्डट्रेक सुन रहे हों।

एक किताब कई काम आ सकती है। पदम याने पदम भैया की छतवाला कमरा। मैटिनी शो और सैकिण्डहैंड किताब की दुकान।

गप्पी फाइनल में वापस भोपाल लौट आया था। डुग्गी आयुर्वेद की



पढ़ाई करने इन्दौर चला गया था। शुरू-शुरू में सब उसके नाम के आगे कविराज जोड़कर उसका मजाक उड़ाते। डुग्गी के पिता भी वैद्य थे। कविराज वैद्यक के लिए दी जानेवाली कोई डिग्री थी। डुग्गी छुट्टियों में आता-जाता था। वापस लौट आने के बाद गप्पी के लिए घर में रहकर पढ़ना सम्भव नहीं था। पदम को भी पढ़ने के लिए कोई साथी चाहिए था। दोनों ने एक दिन तय किया कि वे साथ-साथ स्टडी करेंगे। पदम को सभी पदम भैया कहते थे। पदम के तीन मंजिले मकान में छत पर एक कमरा था जो पदम का अपना कमरा था। छत पर होने के कारण वहाँ एकान्त भी था। यँ पदम का परिवार बहुत बड़ा था। कई भाई-बहन थे। संयुक्त परिवार था। पदम के बाबा और दो चाचा भी उसी मकान में रहते थे। लेकिन सबके अपने-अपने हिस्से बटे हुए थे। छत पर अक्सर कोई आता-जाता नहीं था। इसलिए पूरी स्वतन्त्रता थी।

डुग्गी के घर के पास ही नाइयोंवाली गली में पदम का मकान था। नाइयोंवाली गली में अब मुश्किल से ही नाइयों का कोई मकान बचा था। नाइयों के कई काम थे। हर घर का अपना एक नाई होता था। गप्पी के पिता कभी सैलून में बाल कटवाने नहीं जाते थे। उनका अपना नाई था। चिमनलाल जब भी पिता के बाल काटने आता तो पिता की हजामत के बाद वह गप्पी और उसके बड़े भाई की भी हजामत करता। हजामत से पहले ही पिता कह देते की गुद्दी पर जीरो मशीन से हजामत कर देना। गप्पी को चिमन से बाल कटवाना बिल्कुल पसन्द नहीं था। वह सैलून में जाकर नई फेशन के बाल कटवाना चाहता था। इसलिए कभी-कभी जब चिमन पिताजी की हजामत बनाने आता गप्पी चुपके से घर से बाहर खिसक जाता। चिमन की माँ हमारे घर की खवासन थी। घर में होनेवाले बुलौये और न्यौतों के लिए न्यौतने का काम उसी के हिस्से था। यह खवासन गप्पी

के पैदा होने के बाद से आयी थी पहलेवाली खवासन की मृत्यु के बाद। वह अक्सर कहती कि उसे किसी बच्चे की जचकी करवाने और मालिश करने का मौका ही नहीं मिला। इसलिए जब गप्पी का छोटा भाई हुआ तो वह बहुत खुश हुई। वह छोटे को मानता का बेटा कहती थी।

पदम के बाबा ने कुछ बरस पहले ही नाइयोंवाली गली में मकान बनवाया था। पदम का परिवार आगरा से आया था। पदम के बाबा ने चौक में मिठाइयों की दुकान खोली थी—आगरा मिष्ठान्न भण्डार। उन दिनों चौक में मिठाइयों की ज़्यादा दुकानें नहीं थीं। एक दुकान थी जिसे मथुरावाले की दुकान कहा जाता था। उसके बगल में ही शिबू चाचा का पूड़ी भंडार था। दो-तीन दुकानें नमकीन की थीं। चौराहे पर एक तीन मंजिला मकान था जिसमें ऊपर की मंजिल पर जो घर था, उसके बारे में यह प्रसिद्ध था कि वहाँ जुएँ का अड्डा चलता है। वहाँ छह-सात लड़कियाँ रहती थीं। गप्पी उनमें से एक लड़की से मन ही मन प्रेम करता था। इसलिए गप्पी अक्सर उस घर के सामनेवाली सिगरेट की दुकान पर खड़ा रहता और बीच-बीच में ऊपर भी देखता रहता। घर के नीचे दहीवालों की दो दुकानें थीं। कल्याण सेठ की दही की दुकान भी थी और वह सट्टा खिलाने का काम भी करते थे। लेकिन उनके सट्टे का कारोबार लखेरापुरा की गली में उनके घर से चलता था। सर्राफेवाले जब रात को दुकानें बंद करके घर जाते तो पहले रतलामी सेव भण्डार से खारी सेव की एक पुड़िया लेते और फिर कोने की दही की दुकान से एक दोने में दही लेकर घर जाते थे। आगरा मिष्ठान्न भण्डार मिठाई की दूसरी दुकान थी इसलिए दुकान जल्दी ही चल निकली। पदम तब छोटा था। वह रात में अक्सर मिठाई की दुकान के बाहर निकले पटिये पर ही सोता था। सुबह-सुबह कई बार जब मैं और गप्पी उधर से

निकलते तो वह बड़ी-बड़ी कड़ाहियों को घिस-घिसकर माँज रहा होता। एक दिन उसने हमारे ही स्कूल में आठवीं क्लास में दाखिला ले लिया। कुछ दिन तो वह सबसे कटा-कटा-सा रहा लेकिन जल्दी ही वह गप्पी का दोस्त बन गया। वह बहुत मेहनती था और बहुत मजेदार भी। दुकान से उसे रोज एक दोना मिठाई मिलती थी। वह दोने को छिपाकर ले आता और हम सबको उसमें से थोड़ी थोड़ी मिठाई खिलाता।

पदम और गप्पी दोनों के पास कोर्स की सारी किताबें थीं। तंगी के दिन थे। एक दिन फिल्म जाने का मन हुआ, डुग्गी लेकिन इन्दौर जा चुका था वरना उसे फिल्म के लिए पटा लिया जाता और वह कहीं न कहीं से पैसे की जुगाड़ कर ही लेता। वह पैदाइशी फितरती था। इसकी टोपी उसके सिर करने में उसे वक्त नहीं लगता था। बहुत देर तक माथापच्ची करने के बाद अचानक पदम की बत्ती जली, बोला यार पढ़ना तो हमको साथ-साथ ही है फिर हर सब्जेक्ट की दो-दो किताबों की क्या जरूरत है। एक किताब बेच देते हैं। आइडिया धाँसू था और फिल्म देखने की इच्छा मन में कुलौंचें भर रही थी। तत्काल एक किताब निकाली गयी और गप्पी और पदम सैक्रिण्ड हैण्ड किताबों की दुकान की तरफ लपक गये। एक किताब कई काम आ सकती है। उससे इम्तहान पास किया जा सकता है यह तो गप्पी को पता था लेकिन उससे फिल्म भी देखी जा सकती है, इसके बारे में कभी नहीं सोचा था। शकर के खिलौने बेचनेवाले इसी तरह की आवाजें लगाते थे कि जब तक जी चाहे खेलो, टूट जाये तो खा लो। किताब बिक गयी और फिल्म देख ली गयी। यह अद्भुत फार्मूला उनके हाथ आ गया था। उसके बाद जब भी फिल्म देखने का मन होता एक किताब निकाली जाती और बेच दी जाती। इम्तहान शुरू हो गये थे। इकोलाजी के पेपर से पहले तीन दिन का

गेप था। सोचा था कि गेप में ही रिवीजन किया जायेगा। किताब ढूँढ़ना शुरू हुआ। पदम के पास किताब नहीं मिली। गप्पी ने अपनी किताबों में ढूँढ़ा तो वहाँ भी किताब नदारत थी। शायद दोनों ही किताबें गलती से बेची जा चुकी थीं। बड़ी मुश्किल थी। ऐन इम्तहान के समय कोई दूसरा दोस्त भी अपनी किताब क्यों देगा। सैकिण्ड हैण्ड किताब की दुकान पर तलाश की गयी पर कहीं वह किताब नहीं मिली। नई किताब खरीदने के लिए दोनों में से किसी के पास पैसे नहीं थे। पदम भैया ने डिक्शनरी से एक शब्द ढूँढ़ा यूटेन्सिलस्। पदम को पैसे अपने बाबा से माँगने पड़ते थे। वे थोड़े पढ़े-लिखे आदमी थे। और पैसा देने में बहुत सवाल करते थे। उन्हें धोखा देना आसान नहीं था। पदम लेकिन घर से पैसे माँगने के लिए तरह-तरह के बहाने बनाने में बहुत माहिर था। कभी-कभी वह पैसे का जुगाड़ करने के लिए दुकान पर बैठ जाता और मौका मिलते ही दुकान के गल्ले से कुछ पैसे मार देता। पदम को डर लग रहा था कि बाबा को यूटेन्सिलस् का मतलब न पता हो। वह डरते-डरते उनके पास गया और बहुत गंभीर होकर कहा कि उसे कुछ पैसे चाहिए। बाबा ने भी अपनी आदत के अनुसार ही उससे सवाल किये। पदम ने कहा कि उसे यूटेन्सिलस् के लिए कैमिस्ट्री लेब में पैसे जमा करने हैं। बाबा को यह शब्द समझ नहीं आया। उन्होंने पूछा यूटेन्सिलस् क्या होता है। पदम ने उन्हें समझाया कि प्रेक्टिकल में जो प्लास्क और टेस्ट ट्यूब आदि की जरूरत पड़ती है उन्हें यूटेन्सिलस् कहा जाता है। बाबा ने काफी नानुकर करते हुए उसे पैसे दे दिये। पैसे तो मिल गये पर किताब नहीं मिली। अब सिर्फ कॉपियों में बने कुछ नोट्स से ही काम चलाना था इसलिए उस पैसे से भी एक दिन फिल्म देख ली गयी।

क्रिस्सा मनुआभान के टेकरे का। एक  
राजा भोज परमार था, दूसरा मुसलमान  
और तीसरा श्वेताम्बर। और  
तीसरी बार घर छोड़ना गप्पी का।

फाइनल का रिजल्ट आ चुका था। गप्पी के पिता ने एक दिन गुसलखाने से निकलते हुए गप्पी से कहा कि तुम चतुर्वेदी जी के पास चले जाना, वो असिस्टेंट स्टेशन मास्टर हैं। मेरी उनसे बात हो गयी है। रेलवे में कुछ नौकरियाँ निकली हैं वे मदद कर देंगे। गप्पी ने कहा कि मुझे रेलवे की नौकरी नहीं करना। पिता चिढ़ गये। उनकी आवाज़ में तनाव आ गया था। उन्होंने लगभग खीजते हुए कहा—तो अब आपने क्या करने का सोचा है? वे तुमसे आप पर आ गये थे। उन्हें गुस्सा आता तो उनकी भाषा में उल्टा ही असर होता था। गप्पी ने आवाज़ को संयत रखने की कोशिश की और कहा कि मैं आगे पढ़ूँगा। इन लच्छनों से आप पोस्ट ग्रेजुएशन नहीं कर सकते। पिता सीढ़ियों के पास आ चुके थे और उन्हें जल्दी में ऊपर जाकर पूजा करनी थी। गप्पी ने भी थोड़ा आवाज़ को लम्बा कर कहा कि मैं आज तक फेल नहीं हुआ...। पर मैं आपको आगे नहीं पढ़ा सकता... पिता ने फैसला सुनाया और सीढ़ियाँ चढ़ गये। फाइनल में पास होने की सारी खुशी काफूर हो चुकी थी। पिनपिनाते हुए गप्पी ने चप्पल पहनी और घर से बाहर हो गया। जब वो डुग्गी के घर पहुँचा तो सब उसी का इंतज़ार कर रहे थे। सारे दोस्त मनुआभान की टेकरे पर गोट करने की तैयारी में लगे हुए थे। कार्यक्रम अचानक ही बना था। साइकिल के कैरियर पर खाने पीने का सामान बाँधा जा रहा था। साइकिलें कम थीं और दोस्तों की संख्या जादा थी। जिन साइकिलों पर खाने का सामान नहीं बाँधा था उन पर दो-दो लोग सवार हो गये।

मनुआभान के टेकरे की चढ़ाई पर तो पैदल ही चढ़ना था इसलिए कोई दिक्कत नहीं थी। हालाँकि मनुआभान के टेकरे पर गोटें अक्सर बारिश आने के बाद होती थीं। गर्मियों में ऐसा कभी-कभार ही होता था पर ठलुआई का मूड बन गया तो सब चल पड़े। रिजल्ट खुलने के बाद से पिकनिक का मूड बन रहा था। चिकलोद, केरवा डेम और भदभदा के बारे में भी सोचा गया पर अंत में पता नहीं क्यों सब मनुआभान की टेकरे पर जाने को एकमत हो गए। मनुआभान के बारे में कामरेड बालकिशन गुप्ता ने बताया था कि मनुआ भाण्ड अंधा था और वह कमलापती की गाथाएँ गाया करता था। वह इसी टेकरे पर पड़ा रहता था और कभी-कभी यहाँ बैठकर बाँसुरी बजाया करता था। इसीलिए इस टेकरे का नाम मनुआभाण्ड का टेकरा हो गया। लेकिन अक्षय बाबू ने मनुआभान की एक अलग ही कहानी सुनाई थी...।

अक्षय बाबू के अनुसार इस पहाड़ी के निकट ही एक भाण्ड परिवार रहता था जिसका मुखिया मनुआभाण्ड था। इस परिवार के लोग गाने-बजाने और बहुरूपिये का काम करते थे। कहते हैं कि दरबार में भी मनोरंजन करने के लिए ये लोग जाया करते थे। मनुआभाण्ड बहुत अच्छा कलाकार था। वह तरह-तरह के भेस बनाता पर राजा को कभी भ्रम में नहीं डाल पाता। एक दिन राजा ने मनुआभाण्ड से कहा कि जिस दिन तुम ऐसा भेस धारण करोगे कि मैं तुम्हें पहचान न पाऊँ...उस दिन मैं तुम्हें अपनी जागीर से एक गाँव दे दूँगा। एक दिन मनुआ राजा के दरबार के पास पहुँचा ही था कि उसी समय एक श्वेताम्बर जैन मुनि गोचरी लेने महल पर पहुँच गये। राजा ने और उनके परिवार ने मुनि को नमन किया। मुनि आहार लेकर चले गये। मनुआ के दिमाग की बत्ती जल गयी। मनुआ चतुर था। वह जैन मुनि के पास पहुँच गया और उन्हीं की सेवा-टहल करने लगा।

उसने कुछ ही दिन में जैन मुनि की भाषा और व्यवहार सीख लिया। दो-तीन महीने बाद जैन मुनि विहार को निकल गये।

एक दिन मनुआभान श्वेताम्बर जैन मुनि का भेष बनाकर पात्र हाथ में लेकर राजा भोज के महल पर जा पहुँचा। राजा भोज और उनके परिवार ने उसकी उसी तरह आवभगत की जैसी उसने पहलेवाले मुनि की आवभगत की थी। जब राजा ने मनुआ को प्रणाम किया तो मनुआ मन ही मन सोचने लगा कि वह असल में साधु हो जाए तो उसे कितना सम्मान मिलेगा। मनुआ का हृदय परिवर्तन हो गया और उस दिन के बाद वह अपने घर नहीं लौटा। कहते हैं कि मनुआ साधु हो गया और साधना से एक दिन आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। यह भी माना जाता है कि भक्ताम्बर स्तोत्र के रचयिता मानतुंग आचार्य वास्तव में मनुआभाण्ड ही थे। जनश्रुति के अनुसार बारह वर्ष बाद जैनाचार्य मानतुंग का भोपाल आगमन हुआ। शहर के बहुत सारे लोग उनके दर्शन को टेकरे पर पहुँचे। राजा भोज भी अपने परिवार के साथ दर्शन को आये। उनके प्रवचन के बाद लेकिन एक अजीब घटना घटी। राजा भोज से मानतुंग महाराज ने प्रश्न किया—राजन्, तुमने मुझे पहचाना? राजा ने कहा महाराज आपको कौन नहीं जानता। आपकी तो कीर्ति देश-देशान्तर तक फैली हुई है। आचार्य ने कहा राजन ध्यान से देखो और पहचानो। राजा ने फिर अपनी बात दोहरा दी। आचार्य ने कहा कि राजन् मैं वही मनुआभाण्ड हूँ जो अपने परिवार के साथ इसी टेकरे पर रहता था। राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अक्षय बाबू ने कहा कि लगता है राजा भोज नाम के कई राजा हुए होंगे। जनश्रुति के अनुसार ये राजा भोज श्वेताम्बर जैन थे। शाहजहाँ बेगम की किताब में एक राजा भोज वह थे जिन्होंने अपनी छत से एक टूटे हुए चाँद को देखकर जब नज़ूमियों से उसका रहस्य जाना तो उसके बाद इस्लाम धर्म

कबूल कर लिया और मुसलमान हो गये।

शाम तक दोस्त खाते-पीते और मस्ती करते रहे। कुछ देर को गप्पी भी अपनी सारी चिन्ताएँ भूल गया था। टेकरी से उतरते-उतरते शाम हो गयी थी। गप्पी को उसकी उदासी ने वापस दबोच लिया था। डुग्गी और गप्पी दोस्तों से अलग पैदल ही आड़ी-टेढ़ी पगडण्डी के रास्ते से उतर रहे थे। गप्पी ने कहा यार डुग्गी लगता है अब मैं ज़्यादा दिन घर में नहीं रह पाऊँगा...डुग्गी ने शुरू में तो समझाने की कोशिश की फिर बोला कुछ दिन काट ले, मैं इस महीने के आखिर में जब वापस इन्दौर जाऊँगा तो तू भी मेरे साथ ही चला चलना... वहीं देखेंगे कि क्या हो सकता है। डुग्गी भी पढ़ ही रहा था। डुग्गी की बात से गप्पी को कुछ तसल्ली हो गयी थी और उसने उसके साथ जाने का मन भी बना लिया था।

**गप्पी की डायरी का एक पन्ना।**

मनुआभाण्ड के टेकरे से लौटकर थकाहारा मैं घर में घुसा और घुसते ही पिताजी से सामना हो गया। उन्होंने छूटते ही बिना किसी संदर्भ के पूछा—तो आपने क्या तय किया? यह सवाल इतना अप्रत्याशित था कि मुझे कोई जवाब नहीं सूझा और मैं बिना कोई उत्तर दिए अपने कमरे में चला गया। कुछ देर यूँ ही अपने बिस्तर पर आँख मूँदे पड़ा रहा। मुझे खुद नहीं पता था कि मैं क्या सोच रहा हूँ... शायद मैं कुछ नहीं सोच रहा था या शायद कुछ नहीं सोच पा रहा था। मैं मनुआभाण्ड नहीं था कि जाकर साधु हो जाता। साधुओं से



मुझे हमेशा से ही एक अजीब-सी चिढ़ थी। इसलिए मैं मजाक में भले ही कभी कह दूँ कि मैं साधू हो जाऊँगा लेकिन मैं कभी भी साधु होना नहीं चाहता था। मैं जब बंबई भागा तो किसी ज्योतिषी ने मेरी कुण्डली देखकर घरवालों को बताया था कि इसका गुरु प्रबल है, गुरु प्रबल नहीं होता तो यह जरूर डाकू हो गया होता। मुझे यह बात बहुत मजेदार लगती थी। डाकू होनेवालों में साधू होने के भी कुछ न कुछ लच्छन जरूर होते होंगे। हालाँकि जगदीश के साथ उल्टा हुआ था। वह साधुओं की संगत में आवारा हो गया था। रात को अचानक ही मैंने माँ को कहते सुना कि अब इस घर में कोई एक ही रह सकता है...अगर गप्पी रहेगा तो मैं नरसिंहगढ़ चली जाऊँगी...। मुझे लगा कि अब डुग्गी के इन्दौर जाने तक इन्तज़ार नहीं किया जा सकता। कोई न कोई निर्णय कल ही करना होगा।

रात-भर बार-बार मेरी नींद खुलती रही। मैंने घर छोड़ने का निर्णय कर लिया था। दूसरे दिन पिता के चले जाने के बाद मैंने एक बैग में अपने दो जोड़ कपड़े रखे और अपनी साइकिल ली और चिल्लाकर कहा कि मैं जा रहा हूँ...। माँ रसोई के बाहरवाले बरामदे में खड़ी थीं। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। उन्होंने मुझे बैग लेकर जाते हुए देख लिया था। बाहर आकर मैंने अपनी साइकिल के कैरियर पर बैग को लगाया और चल दिया। साइकिल छोड़ दूँ या साथ ले लूँ, कुछ देर तक यह द्वन्द्व मेरे मन में चलता रहा लेकिन फिर मैंने साइकिल साथ ले ली। यह नाना की साइकिल थी। मैंने अपने कई महीने के वजीफे के रुपये इसमें लगाये थे। टायर-ट्यूब से लेकर आधी से ज़्यादा चीज़ें मैं इसकी बदल चुका था। मुझे नवाब साहब के यहाँ से पच्चीस रुपये महीने का वजीफ़ा मिलता था। यह वजीफ़ा हालाँकि पिता के कारण ही मिलता था इसमें मेरी योग्यता का कोई योगदान नहीं था।

मालवा की एक कथा के अनुसार भर्तृहरि ने नौ बार घर छोड़ा था। वह बार-बार घर छोड़कर साधू हो जाता और बार-बार वापस लौट आता। मैं भी दो-बार घर छोड़कर वापस लौट चुका था लेकिन इस बार मैं भागकर किसी अपरिचित जगह नहीं जा रहा था। मैंने तय कर लिया था कि घर नहीं लौटूँगा...कोई न कोई नौकरी जरूर मिल जायेगी...इस बार कोई बड़े सपने आँखों में नहीं थे...कोई टुच्ची-सी नौकरी करते हुए घर से अलग रहने की इच्छा लेकर ही घर से निकला था...। मैं डुग्गी के घर पहुँचा और उसे बता दिया कि मैं घर छोड़ आया हूँ...डुग्गी ने कहा ठीक है, फिकर नाँट...। डुग्गी ने इसके बाद कुछ नहीं कहा। वह शायद समझ गया था कि इस समय कुछ भी ज़्यादा बोलना मुझे रुला देगा। डुग्गी का बड़ा भाई उसी शाम इन्दौर जा रहा था। मैंने डुग्गी से कहा अभी आता हूँ...और बिना रुके चौक चला गया। चौक में एक किराये की साइकिलवाले की दुकान थी। मैंने साठ रुपये में अपनी साइकिल बेच दी। थोड़ा दुख हुआ पर जल्दी से मैंने रुपये जेब में रखे और तेज कदम से डुग्गी के घर की ओर लौट गया। शाम को मैं डुग्गी के भाई के साथ इन्दौर चला गया...।

बस में जाते हुए मुझे ताज साहब का एक शेर रह-रहकर याद आ रहा था...।

मैं लम्हा-लम्हा मरता जा रहा हूँ  
मेरा घर मेरा मक़तल तो नहीं है।

[किस्सा कोताह पुस्तक से]

# तंगहाली में संघर्ष

(1931-1938)

\*

राधू करमाकर

कलकत्ता उन दिनों रोशनी का शहर था। ब्रिटिश शासनकाल में तब यह भारत की राजधानी नहीं रह गया था लेकिन फिर भी उस दौरान यह भारत की वाणिज्यिक राजधानी बना हुआ था। सुएज से सिंगापुर के बीच सभी व्यापार कलकत्ता से होकर संपन्न होते थे। जब तक जापानियों ने कलकत्ता पर बम नहीं छोड़ा, तब तक अर्थात् 1940 तक यह शहर जीवंत बना रहा। लेकिन बम गिरने के बाद इस शहर की रोशनी हमेशा के लिए चली गई। एक आपदा के बाद दूसरी आपदा आती रही। बंगाल विभाजन के बाद सीधी कार्रवाई से जुड़े दंगे हुए। फिर विभाजन के बाद हुए दंगों ने कलकत्ता को और भी खत्म कर दिया। विभाजन की राजनीति के शिकार बेसहारा विस्थापितों के सैलाब से कलकत्ता पूरी तरह पटा हुआ था। जिन दिनों मैं कलकत्ता पहुंचा था, उस समय यह ब्रिटिश साम्राज्य के मुकुट का नगीना था। नाव, स्टीमर, रिक्शा, ट्रेन और बस की कई घंटों के सफर के बाद

मैं शोभा बाजार पहुंचा। यहां मेरे बड़े भाई रहते थे। मुझे मैट्रिक की पढ़ाई करनी थी और साथ ही अंशकालिक नौकरी करके अपने घर रकम भेजनी थी। लेकिन मुझे तमाम बीमारियों ने घेर लिया। बीमारियां आतीं और मुझे ग्रस कर चली जाती।

मुझे कलकत्ता पढ़ने भेजा गया था ताकि कुछ काम-धंधा करके घर को कुछ रकम भेज सकूं। लगभग दो साल तक मेरे जीवन-मरण का प्रश्न बना रहा और अपनी भाभी की समर्पित सेवा के चलते मैं किसी तरह बच पाया। डॉक्टरों और अस्पतालों के पास अंतहीन दौड़ किसी सेहतमंद आदमी को भी बीमार बना सकती है। घर में आलस्यभरी जिंदगी बिताने के बाद शहर की जिंदगी से तालमेल बिठाने में भी मैं असमर्थ था। 1933 तक कुछ भी करने लायक मैं नहीं था। मेरी उम्र 17 साल की हो चुकी थी और अब स्कूली पढ़ाई करने के लिए काफी देर हो चुकी थी। मेरी आर्थिक हालत बहुत खराब थी और मेरे पिताजी के अनुयायियों की समर्पित सेवा, उनकी आत्मीयता और दान से घर का चूल्हा किसी तरह जल रहा था, अतः मैंने आगे न पढ़ने का फैसला लिया। इन हालातों में पढ़ाई न करने का मेरा निर्णय सही था। पीछे जाकर आज मैं उस घटना को लेकर सोचता हूं तो लगता है कि यह एक आत्मघाती निर्णय था। यदि मुझे दुबारा मौका दिया जाय तो मैं ऐसा कतई नहीं करूंगा।

मेरे दिमाग में सिर्फ एक ही बात घूमती रहती थी कि मुझे घर रकम भेजनी है। लेकिन यह कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन। पिछले दो सालों से बीमारियों से ग्रस्त होने के कारण, 17 वर्ष का होने के बावजूद मैं दुबला-पतला मरियल सा लगता था। हिंदी-अंग्रेजी बोल नहीं पाता था। मैंने इन्हें कहीं सीखा भी नहीं था। लेकिन मन के कोने में बसी जयदेव फिल्म की याद ने फिल्म

उद्योग में काम करने की इच्छा के बीज बो दिये थे। कई तरह के काम-धंधों में मैंने अपने आपको आजमाया। हर जगह नौकरी के लिए आवेदकों की संख्या बहुत होती थी। मेरे पास न तो कोई ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व था और न ही मेरी कद-काठी ही ऐसी थी कि प्रशिक्षु के रूप में कोई कंपनी या फर्म मुझे रख ले। आखिरकार 1935 तक ग्रे स्ट्रीट स्थित अपने भाई की जेवरात की दुकान में मुझे काम करना पड़ा। दो साल तक मैं वहां बना रहा। पहले ही पखवाड़े में मुझे लग गया कि यह जिंदगी मेरे लिए नहीं बनी है। लेकिन मेरे लिए कोई और विकल्प न था। मुझे पांच रुपये आने-जाने के लिए मिलते थे। इस पूरी रकम को बचाकर मैं अपने घर भेज देता था। वहां भयानक काम था और इससे भी बदतर वहां काम करने के हालात थे। सभी प्रशिक्षुओं को 10-12 घंटे रोज काम करना पड़ता था। गहने बनाने की बारीकियों के बारे में मेरी जानकारी अच्छी थी, फिर भी फिल्म उद्योग से जुड़ने के लिए मैं तौर-तरीके खोजने का प्रयास कर रहा था।

सिनेमा उद्योग, भद्रलोक और हमारे सरीखे बेहद रूढ़िवादी परिवारों को आकर्षित नहीं करता था और इस क्षेत्र में कार्य करने की अनुमति तो निश्चित रूप से नहीं देता था। हमारे पास जेवरों की एक दुकान थी जिसके मालिक बसाक बहुत चतुर और पारखी व्यक्ति थे। उन्होंने भांप लिया कि मुझे जेवरों के कारोबार में कोई दिलचस्पी नहीं है। वह फिल्म उद्योग से जुड़े कुछ व्यक्तियों को जानते थे। यह वर्ष 1935 था और कोई 'सरकार' नाम के व्यक्ति ईस्ट इंडिया फिल्म स्टूडियो एंड लैब्स में प्रयोगशाला सहायक के रूप में काम करते थे। वह लंबी छुट्टी पर चले गए थे और उस लैब में एक अस्थायी जगह खाली थी। वहां अच्छा काम करने पर नौकरी पक्की होने के आसार भी थे। इस समय मुझे दस रुपये प्रति माह मिल रहा था,

इस लिहाज से उस नौकरी में सौ फीसदी इजाफा था और साथ ही सिनेमा की दुनिया में प्रवेश का रास्ता भी।

जब मैंने स्वर्णकारी के पारिवारिक कारोबार को छोड़कर फिल्म के अनिश्चित भविष्य की ओर जाने की घोषणा की, जैसा कि मुझे अंदेशा था, घर में खूब हंगामा हुआ। दरअसल उन दिनों फिल्म में सभ्य परिवार के लोग काम करने नहीं जाते थे। घर में सबके चेहरे सूजे हुए थे लेकिन मेरे माता-पिता ने आश्चर्यजनक ढंग से मेरा साथ दिया क्योंकि मेरे पूर्व पत्रों से उन्हें खबर लग गयी थी कि कि मेरा मन जेवरात के कारोबार में नहीं लग रहा है। अप्रत्याशित कोने से समर्थन मिलने से विरोध कुछ कम हो गया और इस प्रकार एक बड़ी बाधा को मैं पार कर गया। मेरा लक्ष्य अभी भी बहुत दूर था। शुरुआती दौर में निगेटिवों को फिल्म लेबोरेट्री में हाथ से धोया जाता था।

यह सही है कि फिल्म लैब में काम करनेवालों की जिंदगी बहुत अधिक नहीं होती थी। एसिड के धुओं से फेफड़े नष्ट हो जाते थे और 7-9 सालों में आमतौर से टी.बी. अथवा कोई न कोई रोग फेफड़ों को जकड़ लेता था। मुझे अंदेशा है कि जो जगह वहां खाली थी, वह भी किसी व्यक्ति की मौत होने से खाली हुई होगी क्योंकि लेबोरेट्री में छुट्टी पर गया वह शख्स कभी वापस लौटा ही नहीं। उस लेबोरेट्री में मैं दो साल रहा। इस अल्पावधि में एक व्यक्ति की मौत हुई। एक व्यक्ति को टी.बी. ने जकड़ लिया जिसने आखिरकार नौकरी छोड़ दी। वहां काम बहुत सख्त और पीठ तोड़नेवाला था। चूंकि वहां कोई मशीन नहीं थी, और ऐसे कामों को करने के लिए आदमी और भी बहुत सस्ते थे, अतः फेफड़े असाध्य रूप से खराब हो जाएं, इसके पहले 2-3 सालों के भीतर किसी स्टूडियो के कैमरा विभाग में नौकरी पाने का मैंने लक्ष्य बना रखा था। दो सालों की

बीमारी से जर्जर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मैं प्रतिदिन व्यायाम और योग के कष्टदायक आसन करता था। लैब का काम थकाऊ और श्रमसाध्य था जिसे अत्यंत सावधानी और पूरे ध्यान से करना होता था। मैं इससे ही बहुत खुश था कि कैमरा विभाग से जुड़ने का लक्ष्य करीब था, हालांकि यह तब भी मुझे बहुत दूर प्रतीत हो रहा था।

जब लंच में या किसी अन्य कारण से मुझे खाली समय मिलता, मैं स्टूडियो फ्लोर की तरफ भागता जहां कोई फिल्म या शॉट का फिल्मांकन चल रहा होता। मैं कैमरे की गतिविधि को बहुत बारीकी से देखता था। उन दिनों कैमरामैन झक्की होते थे और वे मामूली आदमी या मेरे सरीखे आदमी से बात करने की कृपा भी नहीं करते थे। अतः मेरे प्रारम्भिक मार्गदर्शक वे कैमरामैन थे जिनके साभिप्राय अथवा अज्ञात हरकतों को मैं बाज की तरह गौर से देखता था। मेरे जैसा जिज्ञासु विद्यार्थी खासतौर से कैमरा का काम सीखने को उत्सुक, वहां कोई और नहीं था। शुरुआती दिनों के मेरे हीरो दिग्गज कैमरामैन होते थे। लेबोरेट्री में मेरी बार-बार की गैरहाजिरी को मेरे सहकर्मी छिपा लेते थे। चूंकि वे समझते थे कि इस छद्म संसार और ग्लैमर से मैं चौंधियाया हुआ हूं और जब इसका रंग मुझ पर से उतर जाएगा तो मैं लेबोरेट्री के लंबित कामों में फिर से लग जाऊंगा।

जहां तक कैमरा का सवाल है, कैमरामैनों को अत्यंत तन्मयता से देखने के बावजूद मुझमें कैमरा चलाने का आत्मविश्वास नहीं आया था। कैमरा चलाना तो दूर, अभी तक उसे मैंने छुआ भी नहीं था। उन दिनों हर कैमरामैन के कैमरे संचालन की अपनी कुछ खास विशेषताएं होती थीं जिन्हें वे यथासंभव छिपाकर रखते थे और अपने सहायकों तक को भी नहीं बताते थे। उनके सहायकों को भी उसे कठिनाई से

सीखना पड़ता था। किसी से सिखाने की उम्मीद करना, चांद तारे मांगने के बराबर था। कोई रास्ता निकालना था। इसका एक उपाय यह था कि कैमरा तभी चलाया जाय जब वहां कोई न हो। कैमरा बड़ा और महंगा यंत्र होता था। कैमरामैन उसे बहुत बचाकर रखते थे। मैंने यह नोट किया कि एक दिन से अधिक समय के लिए कैमरे की जरूरत पड़ने पर वह पैकअप के बाद फ्लोर पर रखा रहता था। अतः मैं ऐसे मौकों की प्रतीक्षा करने लगा। पैकअप के बाद स्टूडियो एकदम वीरान हो जाने की मैं बाट जोहता था। कैमरे के सभी अंगों को मैं प्रेम और पवित्र भाव से छूता था, फिर फिल्मविहीन कैमरे को इधर-उधर चलाता-घुमाता था। कैमरे को हल्के हाथ से चलाना होता था क्योंकि जरा सी कंपन से भी कैमरे की आंख अथवा लेंस उस वस्तु को बहुत जल्दी कई गुणा बड़ा कर देते थे।

मैं खुशकिस्मत था कि अभी भी निगेटिवों को धोता था और यह देख-समझ सकता था कि कैमरामैन क्या गलतियां करते हैं और वे क्यों होती हैं। लेबोरेट्री का यह अनुभव मेरे परवर्ती जीवन के लिए अमूल्य वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि मेरे पास अपेक्षित व्यावहारिक अनुभव था जिसे अधिकांश कैमरामैन अर्जित नहीं कर पाते हैं। सैद्धान्तिक जानकारी प्राप्त करने का मुझे कोई मौका नहीं मिला। लेकिन व्यावहारिक ज्ञान का वहां अथाह कोश था जिसे मैं सहज ही अर्जित कर रहा था। महान फ्रांसीसी फिल्मकार गोदार का कहना है कि फोटोग्राफी सच है, सिनेमा एक सेकंड में 24 बार सच है। जब तक मैं पकड़ा नहीं गया, मेरा यह अपरम्परागत प्रशिक्षण 2-3 महीने तक चलता रहा।

ईस्ट इंडिया कंपनी के कैमरामैन भागवत वाशीकर थे। उन्होंने भांप लिया कि कोई उनके कैमरे से छेड़छाड़ करता है। अपनी आशंका



की पुष्टि के लिए पैकअप टाइम के बाद कैमरा रखकर खड़िया से उन्होंने निशानदेही कर दी। अगले दिन उन्होंने रखे हुए कैमरे की जांच की तो पाया कि उनकी अनुपस्थिति में वास्तव में उसे किसी ने इधर-उधर किया है। उन्होंने अपने सहायक से सहज भाव से पूछा कि क्या कोई उनके कैमरे को छूता है। जब इसका उत्तर नकारात्मक मिला तो उन्हें अपने यंत्र की सुरक्षा को लेकर चिंता हो गई। पैकअप टाइम के बाद वह स्टूडियो सेट के पीछे छिप गए और अपराधी के आने की बाट जोहने लगे। मैं तब तक ढीठ हो गया था और जैसे ही मैं कैमरे को चलाने लगा, वाशीकर ने पीछे से आकर मुझे अपने लौहपाश में जकड़ लिया। डर के मारे मेरे मुंह से आवाज नहीं निकल रही थी। मैं हकलाने लगा। वाशीकर ने पूछा कि यह सब तुम कब से कर रहे हो। मैंने सब कुछ सच-सच बताने का फैसला कर लिया और अपनी आकांक्षा, सपने और अपनी आर्थिक हालत के बारे में सब कुछ बता दिया।

वाशीकर धैर्यपूर्वक मुझे सुनते रहे और फिर पूछा कि क्या मैं जानता हूँ कि कैमरे की लागत कितनी होती है। मुझे कुछ-कुछ अंदाजा था। मैंने उन्हें कीमत बता दी। उन्होंने फिर पूछा कि इतना भारी-भरकम कैमरा चलाते समय यदि यह टूट जाए तो इसका नतीजा क्या होगा। मेरा सिर शर्म से झुक गया। वाशीकर ने तब यह कहकर मुझे अचानक चौंका दिया कि यदि मैं सचमुच सीखना चाहता हूँ तो क्यों नहीं मैं उनके जैसे किसी अनुभवी और दक्ष कैमरामैन से सीखूँ। उन्होंने प्रस्ताव किया कि जब स्टूडियो फ्लोर से सब चले जाएंगे, तब वह जो कुछ वह जानते हैं, वह सब कुछ सिखा देंगे। वाशीकर ने जो कुछ अत्यंत कठिनाई से सीखा था, उसे बहुत प्यार से मुझे सिखाते थे। उन दिनों ऐसी सदाशयता की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। उनके प्रशिक्षण से ज्ञान के रहस्य खुल गए।

मेरे लिए वाशीकर पिता सरीखे उदात्त व्यक्ति थे और हमेशा बने रहेंगे। वह आसानी से मेरे अपराध को अधिकारियों को बता सकते थे और मुझे फौरन नौकरी से निकाला जा सकता था अथवा वह मुझे थप्पड़ मारकर कैमरा छूने से मना कर सकते थे। उनकी सहायता, प्रोत्साहन, कैमरे की आवश्यक और बुनियादी बातों को सिखाने के लिए ही मैं उनका कृतज्ञ ही नहीं हूँ, बल्कि उस घटना के बाद भी मैं वहाँ निगेटिवों की धुलाई करने का काम करता रह सका, इसके लिए भी मैं उनका आभारी हूँ।

उनकी इस कृपा को मैं कभी नहीं भूल सकता। मैं उस महान व्यक्ति की सहायता को याद कर हमेशा आनंदित होता रहा हूँ। इसलिए मैं हमेशा तमाम युवा और गरीब भाइयों को प्रोत्साहित करता हूँ और यथासंभव उनकी मदद भी करता हूँ। इस अमूल्य प्रशिक्षण प्राप्त होने के अलावा, मनुष्यता में मेरा विश्वास और गहरा हुआ और इससे मेरी आकांक्षा और शक्ति और अधिक बढ़ी। पहली बार लगा कि मेरे कैरियर में मुझे मदद मिली है और मैं दुनिया जीत सकता हूँ। यह प्रशिक्षण अनोखा और गुप्त था। इस प्रशिक्षण व्यवस्था के बारे में किसी को भी पता नहीं चला। सिनेमैटोग्राफी की कला के अपने पहले गुरु भागवत वाशीकर का मैं हमेशा ऋणी रहूँगा।

ईस्ट इंडिया कंपनी में प्रशिक्षु कैमरामैन के लिए नौकरी मिलने का सवाल ही नहीं उठता था क्योंकि वहाँ तमाम सहायक भरे पड़े थे। मुझमें इतना आत्मविश्वास आ गया था कि मैं अगला कदम आगे बढ़ाऊँ। दिसम्बर 1936 में वाशीकर पूरे विश्वास के साथ कह सकते थे कि वह जो कुछ जानते थे, वह मुझे बता चुके हैं। उस समय भारत में जतीन दास, कृष्ण गोपाल और नितिन बोस सर्वश्रेष्ठ कैमरामैन थे। जयदेव से मैं अत्यधिक प्रभावित था और मुझे पता

था कि जतीन दास ने इस फिल्म की फोटोग्राफी की है। मुझे इस उस्ताद कैमरामैन के चरणों में बैठकर सीखना था। उस समय वह राधा फिल्म्स से जुड़े हुए थे।

उन दिनों हर महीने मुझे 20 रुपये मिलते थे। मेरी सबसे बड़ी चिंता यह रहती थी कि किस तरह मैं 10 रुपये अपने घर भेज सकूँ। मनीआर्डर की इस छोटी राशि पर मेरा परिवार निर्भर था, इसलिए मुझे लगभग भूखा रहकर गुजारा करना पड़ता था। शोभाबाजार स्थित अपने घर से टालीगंज स्टूडियो तक मैं रोजाना पैदल आता-जाता था। लेकिन इस श्रमसाध्य कार्य से मेरी सेहत खराब होने लगी। मुझे पैदल आते-जाते देखकर मेरे भाई ने मेरे लिए साइकिल खरीद दी। साइकिल चलाने का तौर-तरीका देखकर कुछ दिन मेरे पड़ोसियों का खासा मनोरंजन होता रहा।

जब मुझे विश्वास हो गया कि मैं अपने जाने के लिए साइकिल का प्रयोग कर सकता हूँ तो मैं उससे आने-जाने लगा। ऐसा करने से कुछ और रकम बचाकर मैं अपने घर भेजने लगा। दुर्गापूजा के अवसर पर घर के रिश्तेदारों के कपड़ों को खरीदने के लिए जब मुझे अधिक रकम भेजनी होती तो मैं चना और पानी पीकर गुजारा करता ताकि अपने घर पांच रुपये अधिक भेज सकूँ। घर में रोटी-दाल का गुजारा भी मुश्किल था। मेरे दो भाई और एक बहन बीमारी से खत्म हो चुके थे। दो और भाई और एक बहन, तीन चचेरे भाई-बहन, बाद के चार सालों में गुजर गए। हर हाल में मुझे सफल होना है, यही बात मेरे दिमाग में हर वक्त घूमती रहती थी क्योंकि मैं जानता था कि यदि मैं सफल नहीं हुआ तो मेरे घर का हाल क्या होगा। मेरी चेतना में असुरक्षा की भावना घर कर गई जो आजीवन मेरे साथ बनी रही। एक असुरक्षित व्यक्ति और एक असुरक्षित उद्योग।

मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो सोचता हूँ कि जिंदगी जीने के और भी सरल तरीके हो सकते थे। लेकिन मुझे सिनेमा के कीड़े ने बुरी तरह जकड़ रखा था और किसी दूसरे रास्ते पर जाने के लिए मैंने कभी सोचा ही नहीं। सहकार भावना और मित्रों के अपनत्व ने अनिश्चित भविष्य का सामना करने में मुझे हमेशा मदद की। जवानी का आनंद उठाने का समय न था। जिंदगी की कठिन पाठशाला ने फुरसत की अवधि को छोटा कर दिया था। परिवार को जिंदा रखने और उनको साथ बनाये रखने का दबाव मुझ पर बहुत अधिक था।

बातचीत करने और मित्रों के साथ मैदान में घूमने के अलावा मेरे पास फुरसत के क्षण बहुत कम होते थे। फिल्म देखने के लिए मेरे पास रकम नहीं होती थी। जो कुछ फिल्में देखी, वे सभी मित्रों की रकम से देखीं। सभी मित्र भी खस्ताहाल थे। खाना सस्ता था, लेकिन बाहर खाने की हमारी औकात न थी। गरीबी दरअसल एक अभिशाप है। जो वस्तुएं आपके लिए मूल्यवान होती हैं, वे आपकी पहुंच से दूर होती हैं। मेरी जवानी के बरबाद हुए सुनहरे दिन फिर लौट कर नहीं आएंगे। विपत्ति की कठिन पाठशाला तमाम सबक सिखाती है जिनके लिए बहुत बड़ी कीमत अदा करनी पड़ती है। मैं बचा रहा क्योंकि नियमित रूप से मैं व्यायाम करता था और मेरी धार्मिक आस्था बहुत गहरी थी। मैं नियमित रूप से प्रार्थना करता था। इससे मेरे मन को इतनी शांति मिलती थी कि अपने घर का चूल्हा जलाने के लिए रोजाना के कामों और चुनौतियों का सामना मैं कर लेता था।

(अनु. विनोद दास)

[कैमरा : मेरी तीसरी आँख पुस्तक से]

# गैंडे के सींग की तरह अकेला

(घुमक्कड़-शास्त्र को दुबारा पढ़कर)

\*

केदारनाथ सिंह

‘घुमक्कड़’ 1948 में प्रकाशित हुआ था—लगभग 46 वर्ष पूर्व। अभी कुछ दिन पहले उसके पन्नों से दोबारा गुज़रते हुए मुझे एक सृजनात्मक कृति से पुनः साक्षात्कार का सुख मिला—एक पूरी जीवन-दृष्टि से मुठभेड़ का सुख। यात्रा-वृत्तान्त बहुत से लिखे गए हैं, पर घुमक्कड़ी का कोई शास्त्र बन सकता है, बल्कि शास्त्र से भी अधिक जीवन का एक सम्पूर्ण ‘विजन’—इसके प्रथम परिकल्पक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ही थे। ग्रन्थ शुरू करने से पहले लेखक के सामने अपना लक्ष्य बहुत स्पष्ट था—समूचे राहुल-साहित्य की तरह दो-टूक और निर्भ्रान्त—और वह यह कि ‘घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना इस ग्रन्थ का काम नहीं, बल्कि जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा मार्गदर्शन इस ग्रन्थ का लक्ष्य है।’ अर्थात् लेखक का उद्देश्य शास्त्र-निर्माण से अधिक कदाचित् यह था कि घुमक्कड़-शास्त्र घुमक्कड़ों के लिए एक मार्गदर्शक ग्रन्थ बने। मुझे लगता है कि ग्रन्थ

के नाम के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड़ने के बावजूद लेखक के मन में शास्त्र-निर्माण की प्रचलित अवधारणा के प्रति एक हल्का-सा व्यंग्य या विनोद का भाव पहले से मौजूद था। यह व्यंग्यभाव सबसे पहले पुस्तक के नाम में ही देखा जा सकता है। 'घुमक्कड़' जैसे ठेठ देशज शब्द के साथ 'शास्त्र' जैसे गुरुगम्भीर शब्द का योग शास्त्राभ्यासी मन को जैसे एक झटका देता है—और मुझे लगता है यह लेखक की, पुस्तक-लेखन की पूरी रणनीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। फिर 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के वजन पर पुस्तक के पहले अध्याय का जो शीर्षक रखा गया—'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' उसमें ब्रह्म के स्थान पर घुमक्कड़ का आ जाना भी आकस्मिक नहीं है। 'ब्रह्म' के स्थान पर 'घुमक्कड़'—यह केवल शब्दों का हेर-फेर नहीं, बल्कि लेखक की पूरी चिन्ताधारा का सूचक है। दुनिया को धारण करनेवाली सत्ता ब्रह्म है, इस परम्परागत मान्यता के विरुद्ध घुमक्कड़ शास्त्र का लेखक कहता है—'दुनिया को धारण करने की बात तो निश्चय ही न ब्रह्म के ऊपर है न विष्णु और शंकर के ही ऊपर। दुनिया, दुख में हो, चाहे सुख में—सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से।' ब्रह्म की व्यापकता का घुमक्कड़ की व्यापकता में यह स्थानान्तरण दिलचस्प है और घुमक्कड़-शास्त्र का एक क्रान्तिकारी पहलू भी। इस तरह घुमक्कड़ी यायावरी से अलग हो जाती है—एक ऐसी मानवीय क्रिया, जिससे दुनिया सहारा पाती है।

वस्तुतः यह पूरी किताब 'घुमक्कड़' की अवधारणा का एक सृजनात्मक विस्तार है। 'सृजनात्मक' शब्द का मैं यहाँ जान-बूझकर इस्तेमाल कर रहा हूँ—क्योंकि लेखक ने लगभग एक सर्जक की तरह यहाँ घुमक्कड़ की एक सर्वथा नई प्रतिमा का निर्माण किया है। इस प्रतिमा की खूबी यह है कि उसके आकार में कबीलाई समाज की घुमन्तू जातियों से लेकर विश्व के बड़े से बड़े धर्म-प्रचारक और धर्म-नायक

भी समा जाते हैं। घुमक्कड़ी और धर्म-प्रसार के बीच एक गहरा रिश्ता है—इस बात को लेखक ने विस्तार से समझाने की कोशिश की है और पहले ही अध्याय में मानो वह अपने आपसे पूछता है—‘शायद किसी को यह सन्देह हो कि मैंने शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, वे सभी लौकिक हैं ? अच्छा तो धर्म से ही प्रमाण लीजिए। दुनिया के अधिकांश धर्म-नायक घुमक्कड़ ही रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार, बुद्धि और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़राज थे।’ इस प्रसंग में लेखक ने शंकराचार्य की भी चर्चा की है और कुछ अन्य धर्म-नायकों की भी और सबको प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ों की श्रेणी में रखा है।

घुमक्कड़-शास्त्र जिस रूप में हमारे सामने है, उसमें वह शास्त्र का विधि-निषेध कम और छोटे-छोटे जीवन्त अनुभवों की एक महागाथा अधिक लगता है। यहाँ लेखक राहुल और घुमक्कड़ राहुल लगभग अभिन्न हो गए हैं। इस तरह यह पुस्तक शास्त्र की कसी-बँधी अवधारणा को थोड़ा छिन्न-भिन्न करती है और घुमक्कड़ी के मिजाज और दर्शन के अनुरूप एक सर्वथा नई विधा का आविष्कार करती है। इस विधा की विशेषता इसके अनुभव-समृद्ध खुलेपन में है। सचाई यह है कि लेखक के मन में घुमक्कड़ का जो बिम्ब है, उसे शास्त्र के चौखटे में बाँधा भी नहीं जा सकता था; तो क्या घुमक्कड़ विद्रोही का पर्याय है ? असल में लेखक के सामने घुमक्कड़ के—और खासतौर से एक आदर्श घुमक्कड़ के कई ‘मॉडल’ हैं। विद्रोही उनमें से एक है। ‘अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा’ के ठीक बाद पुस्तक का जो दूसरा अध्याय है, उसका शीर्षक है ‘जंजाल तोड़ो’। इस शीर्षक में एक प्रकार के विद्रोह की ध्वनि है और जब लेखक कहता है कि, ‘घुमक्कड़ के लिए जंजाल तोड़कर बाहर आना पहली आवश्यकता है’ तो वह बिना लाग-लपेट के अपने उसी मूल आशय की घोषणा

करता है। गीता के बारे में लेखक की जो टिप्पणी है, उसमें एक अन्य प्रसंग में, 'जंजाल तोड़ो' की यह विद्रोही ध्वनि ज़रा ज़्यादा ही तेज़ सुनाई पड़ती है। लेखक के शब्द हैं—'वैसे तो गीता को बहुत कुछ नई बोटल में पुरानी शराब और दर्शन तथा उच्च धर्माचार के नाम पर लोगों को पथ-भ्रष्ट करने में ही सफलता मिली है, किन्तु उसमें कोई-कोई बात सच्ची भी निकल आती है।' यह बात भावी घुमक्कड़ों से कही गई है—एक घुमक्कड़ लेखक के द्वारा। इसलिए यह मानने का कारण है कि इस कथन में जो तल्खी है—और साथ ही एक खास तरह का साहस भी—उसका घुमक्कड़ की बुनियादी विद्रोह-वृत्ति से कुछ न कुछ लेना-देना ज़रूर है।

'धर्म और घुमक्कड़' नामक अध्याय में लेखक ने घुमक्कड़ी की दृष्टि से जो विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक आकलन प्रस्तुत किया है, वह बेहद दिलचस्प है। यहाँ लेखक का बौद्धिक विवेक और उसके मूलभूत विश्वास—दोनों साथ-साथ सक्रिय दिखाई देते हैं—कई बार मिलते और कई बार टकराते हुए। तुलना के शब्द इस प्रकार हैं—'ईसाई घुमक्कड़ ब्राह्मणधर्मी घुमक्कड़ से इस बात में (यानी बन्धनों को तोड़ फेंकने में) अधिक उदार हो सकता है। मुसलमान फष्कीर भी घुमक्कड़ी के नशे में चूर होने पर किसी तरह के भेदभाव को नहीं पूछता। लेकिन सबसे हीरा धर्म घुमक्कड़ के लिए जो हो सकता है, वह है बौद्ध धर्म, जिसमें न छुआछूत की गुंजाइश है, न जात-पाँत की।' एक घुमक्कड़ के लिए 'हीरा धर्म' कौन-सा है, इसको लेकर विवाद हो सकता है। पर जब यह बात एक ऐसे लेखक के द्वारा कही जा रही हो, जो अपने घुमक्कड़ जीवन में विभिन्न धर्मावलम्बियों की संगत में रह चुका हो और कई धर्मों का स्वाद चख चुका हो, तो उसे—एकबारगी खारिज नहीं किया जा सकता। परन्तु 'हीरा धर्म' की इस प्रशंसा के बावजूद लेखक का यह मानना है कि 'हो सकता



है, घुमक्कड़ का किसी एक धर्म के प्रति अधिक सम्मान हो। परन्तु अनेक बार घुमक्कड़ को सभी रूपों में देखा जा सकता है।' इस सभी रूपों में देखे जाने की बात को मैं रेखांकित करना चाहता हूँ। जो बात लेखक कहना चाहता है वह यह कि एक सच्चे घुमक्कड़ में विचारों का एक लचीलापन होता है—उसके बद्धमूल विश्वासों में एक सहज नमनीयता; जिसके चलते वह सभी धर्मों की मूलभावना के साथ एकाकार हो जाता है। घुमक्कड़-शास्त्र हमें जिन निष्कर्षों तक ले जाता है, उनका आशय यही है कि घुमक्कड़ी अपने आपमें एक तरह का विश्वधर्म है—क्योंकि वह हर सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। इस प्रसंग में इस्लाम पूर्व मध्य एशिया का जिक्र लेखक ने खासतौर से किया है। उसने बताया है कि इस्लाम के आने से पहले तक वहाँ एक ही छत के नीचे, अलग-अलग दिशाओं से आकर विभिन्न धर्मों के घुमक्कड़ एकत्र होते थे और जीवन के मूलभूत विषयों पर बहस करते थे और यह कि इस्लाम के आने के बाद यह मुक्त धार्मिक संवाद की परम्परा समाप्त हो गई। यह और इस प्रकार की अनेक टिप्पणियाँ इस पुस्तक में ऐसी मिलेंगी, जिस पर कोई चाहे तो बहस कर सकता है। पर यही तो घुमक्कड़-शास्त्र की ताकत है कि यहाँ हर तीसरे पृष्ठ पर आपको कोई न कोई स्थापना ऐसी जरूर मिल जाएगी जो या तो आपको अपनी अनुभव दीप्त मौलिकता से छू ले या फिर अपनी गहरी विचारोत्तेजकता से बहस के लिए बेचैन करे।

विवाह नामक संस्था के बारे में घुमक्कड़ क्या सोचता है—यह जानना प्रासंगिक हो सकता है और दिलचस्प भी। एक अंग्रेज घुमक्कड़ पर—जिसने एक वन्य जाति की कन्या से विवाह कर लिया था—टिप्पणी करते हुए लेखक कहता है—'घुमक्कड़ के लिए विवाह सबसे बुरी चीज है। इसलिए मैं समझता हूँ, इस सस्ते हथियार को इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।' 'सस्ते हथियार' पर मैं थोड़ा अटक

गया। यदि कोई घुमक्कड़ भील-जाति की किसी कन्या से इसलिए विवाह कर ले कि वह उनके और निकट पहुँच सके तो यह 'सस्ता हथियार' क्यों हो जाएगा ? पर लेखक की मूलभूत मान्यता यह है कि वह हर चीज़ जो घुमक्कड़ी के विरुद्ध पड़ती है, घुमक्कड़ के लिए त्याज्य है—फिर वह स्त्री, माता, पिता, आराध्य, कुछ भी क्यों न हो। घुमक्कड़ असंग और निर्लेप होता है—लगभग एक योगी की तरह। लेखक के मन में घुमक्कड़ी के जो अनेक 'मॉडल' हैं, उनमें से एक यह भी है। एक आदर्श घुमक्कड़ वह है जो अपनी निस्संगता में रमण करे—लगभग गैंडे के सींग की तरह अकेला। यह गैंडे के सींगवाली उपमा लेखक ने बौद्ध साहित्य के हवाले से दी है और इस एक उपमा में घुमक्कड़ी के दुर्दम साहस को व्यक्त करने की कितनी क्षमता है, यह बताने की जरूरत नहीं।

परन्तु घुमक्कड़-शास्त्र में कुछ सुखद अन्तर्विरोध भी हैं, जो मेरे जैसे पाठक के लिए उसे और भी जीवन्त बना देते हैं। घुमक्कड़-दर्शन की सारी निस्संगता के बावजूद लेखक का मन तिब्बत की उन घुमन्तू जातियों के प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता, जो सपरिवार भ्रमण करते हैं। उनके बारे में वह कहता है कि उनमें से 'कोई-कोई तो शिमला से चीन तक की दौड़ लगाता है...साथ में परिवार होता है, लेकिन परिवार की संख्या नियन्त्रित होती है—क्योंकि सभी भाइयों की एक ही पत्नी होती है।' इस परिवार-वृत्त का विस्तार करते हुए लेखक यह भी बताता है कि उन घुमन्तू जातियों के पास बेचने के लिए कुछ सामान होता है और उसे ढोने के लिए तीन-चार गधे और जहाँ तक गधों का सवाल है, उन्हें जंगली पशुओं से बचाना पड़ता है—क्योंकि लेखक के अनुसार हिंस्र पशुओं के लिए गधे रसगुल्ले से कम मीठे नहीं होते। निस्संगता के बीच घुमक्कड़ परिवार के प्रति यह आकर्षण तथा शास्त्रनामधारी ग्रन्थ के बीच इस तरह की विनोदपूर्ण

टिप्पणियाँ एक सुखद विरोध की सृष्टि करती हैं और इसी द्वन्द्व से रचा गया है घुमक्कड़-शास्त्र का सारा ढाँचा। घुमक्कड़-शास्त्र का ढाँचा वस्तुतः घुमक्कड़-जीवन का ही प्रतिबिम्ब है।

पुस्तक में एक अध्याय स्त्री घुमक्कड़ों के बारे में भी है—हालाँकि पहले अध्याय में ही यह प्रश्न उठाया जा चुका था कि, 'क्या स्त्रियाँ घुमक्कड़ी कर सकती हैं?' और लेखक का उत्तर था—'घुमक्कड़-धर्म, ब्राह्मण धर्म जैसा संकुचित नहीं, जिसमें स्त्रियों के लिए स्थान नहीं हो।' इस स्वतन्त्र अध्याय में लेखक की इस मूलभूत मान्यता का विस्तार है। यहाँ लेखक नारी-मुक्ति के प्रवक्ता के रूप में दिखाई पड़ता है और इस दृष्टि से इस अध्याय का अलग महत्त्व है—लगभग एक ऐतिहासिक महत्त्व—क्योंकि भारत में नारी-मुक्ति आन्दोलन के शुरू होने से काफ़ी पहले यह लिखा जा चुका था। घुमक्कड़ी के क्षेत्र में स्त्री की मुक्ति का यह आग्रह इस हद तक है कि लेखक इस मामले में घुमक्कड़राज बुद्ध तक को क्षमा नहीं करता। लेखक के शब्द इस प्रकार हैं—'नारी के प्रति जिन पुरुषों ने अधिक उदारता दिखाई, उनमें मैं बुद्ध को भी मानता हूँ। इसमें शक नहीं कि कितनी ही बातों में वे समय से आगे थे। लेकिन तब भी जब स्त्री को भिक्षुणी बनाने की बात आई तो उन्होंने बहुत आनाकानी की और एक तरह गला दबाने पर स्त्रियों को संघ में जाने का अधिकार दिया।' यह लेखक की सत्यान्वेषी निर्मम घुमक्कड़-दृष्टि थी जो संकीर्णता के प्रश्न पर उसे भी क्षमा नहीं करती, जो उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण नैतिकता का सर्वोच्च मानदंड है। इस अध्याय के अन्त में लेखक लगभग एक प्रोफ़ेष्टिक दृढ़ता के साथ स्त्री घुमक्कड़ों के बारे में कहता है—'उन्हें घुमक्कड़ बनने दो। उन्हें दुर्गम और बीहड़ रास्तों से भिन्न-भिन्न देशों में जाने दो। लाठी लेकर पहरा देने से उनकी रक्षा नहीं हो सकती। वे तभी रक्षित होंगी, जब वे खुद अपनी रक्षा कर सकेंगी।' इस घोषणा से

पहले ही, चलते-चलते लेखक ने एक टिप्पणी यह भी की है कि पुरुष-समाज ने अपने सारे आचार-नियम इस तरह बनाए हैं कि स्त्री को घुमक्कड़ी से रोका जा सके। घुमक्कड़-शास्त्र उन नियमों की बखिया उधेड़ने में एक खास तरह की तृप्ति का अनुभव करता है।

और अन्त में, मृत्यु-दर्शन—हालाँकि यह इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय नहीं है। यहाँ पहला सवाल तो मेरे मन में यही उठा कि घुमक्कड़-शास्त्र में मृत्यु-दर्शन क्यों ? पढ़ने पर उत्तर की तहें अपने आप खुलती गईं। वस्तुतः यह अध्याय मृत्यु से भय या शोक के बारे में नहीं है। इसकी खूबसूरती यह है कि यह मृत्यु की वास्तविकता और मानव-भविष्य के विकास में उसकी भूमिका के बारे में है। घुमक्कड़ मृत्यु को गतिशीलता के सामान्य नियम और परिवर्तन के रूप में देखता है—इसलिए वह मृत्युंजय होने की कल्पना नहीं करता। न ही वह वृद्धों के सठियाने का पक्षपाती हो सकता है—क्योंकि लेखक के अनुसार एक आदर्श घुमक्कड़ (लेखक के शब्दों में प्रथम श्रेणी का घुमक्कड़) की दृष्टि में—‘इन फॉसिलों का स्थान मानव-समाज नहीं, बल्कि म्यूज़ियम है।’ मैं सोचने लगा—घुमक्कड़-शास्त्र में यह वृद्ध-विरोध क्यों ? असल में इसका सम्बन्ध लेखक की उस मूल परिकल्पना से है जिसके अनुसार घुमक्कड़ एक चिर युवा है—एक दुस्साहसी तरुण। यह अकारण नहीं है कि घुमक्कड़ के साथ ‘तरुण’ शब्द का प्रयोग इस पुस्तक में बार-बार किया गया है और साथ ही इस बात पर भी जोर दिया गया है कि घुमक्कड़ को अमरता का लोभ नहीं होना चाहिए, न ही इस जीवन के बाद किसी कीर्ति-कलेवर का। लेखक के अनुसार घुमक्कड़ी एक अनवरत सिलसिला है—जो चलता रहता है, जैसे एक लहर के बाद दूसरी, फिर तीसरी। एक सच्चे घुमक्कड़ की सार्थकता इस बात में है कि वह अन्तर्धान होने से पहले दूसरी लहर उठा दे। यहाँ घुमक्कड़-शास्त्र का लेखक सफलता

की एक सर्वथा नई कसौटी प्रस्तुत करता है—‘आदमी के कृतित्व का मूल उसकी उठाई लहरों की शक्तिशीलता है।’ और बेशक यही एक सच्चे घुमक्कड़ की सफलता की कसौटी भी है—यही कि अपने बाद उसने जो लहर उठाई, उसमें कितनी शक्ति है अर्थात् कितनी प्रजननशीलता। एक घुमक्कड़ की सफलता घुमक्कड़ी के प्रवाह को बनाए रखने में है—क्योंकि उसी में उसकी मुक्ति है और उसी में उसका चरम आनन्द भी। घुमक्कड़-शास्त्र का लेखक घुमक्कड़ी को काव्य-रस की तरह एक अलग प्रकार का रस मानता है। मैं इस आलेख को एक छोटे-से उद्धरण के साथ समाप्त करना चाहता हूँ, जहाँ लेखक घुमक्कड़ी की व्याख्या कुछ इस तरह करता है, जैसे वह किसी कलाकृति के प्रभाव की व्याख्या कर रहा हो—‘घुमक्कड़ी एक रस है जो काव्य-रस से किसी भी तरह कम नहीं है। कठिन मार्गों को तय करने के बाद नए स्थानों में पहुँचने पर हृदय में जो भावोद्रेक पैदा होता है, वह एक अनुपम चीज़ है। उसकी कविता के रस से हम तुलना कर सकते हैं और यदि कोई ब्रह्म पर विश्वास रखता हो तो वह उसे ब्रह्म रस समझेगा।’

ब्रह्म-रस और घुमक्कड़ी—ब्रह्म के स्थान पर पुनः घुमक्कड़! यही है राहुल का घुमक्कड़ बिम्ब—अदम्य और लचीला, लघु और विराट!

[कब्रिस्तान में पंचायत पुस्तक से]

# परछाइयाँ

\*

साहिर लुधियानवी

जवान रात के सीने पे दूधिया आँचल  
मचल रहा है किसी ख्वाबे-मरमरी<sup>1</sup> की तरह  
हसीन फूल, हसीं पत्तियाँ, हसीं शाखें  
लचक रही हैं किसी जिस्मे-नाज़नी<sup>2</sup> की तरह  
फ़ज़ा में घुल-से गए हैं उफ़ुक के नर्म खुतूत<sup>3</sup>  
जमीं हसीं है ख्वाबों की सरज़मीं की तरह

तसव्वुरात<sup>4</sup> की परछाइयाँ उभरती हैं  
कभी गुमान<sup>5</sup> की सूरत, कभी यक्रीं<sup>6</sup> की तरह  
वो पेड़ जिनके तले हम पनाह लेते थे  
खड़े हैं आज भी साकित<sup>7</sup> किसी अमीं<sup>8</sup> की तरह

उन्ही के साये में फिर आज दो धड़कते दिल  
खमोश होंटों से कुछ कहने-सुनने आए हैं

न जाने कितनी कशाकश<sup>9</sup> से, कितनी काविश<sup>10</sup> से  
 ये सोते-जागते लम्हे चुरा के लाये हैं  
 यही फ़जा थी, यही रुत, यही ज़माना था  
 यहीं से हमने मुहब्बत की इब्तिदा<sup>11</sup> की थी  
 धड़कते दिल से, लरज़ती हुई निगाहों से  
 हुज़ूरो-ग़ैब<sup>12</sup> में नन्ही-सी इल्तिजा<sup>13</sup> की थी  
 कि आरज़ू के कँवल खिल के फूल हो जाएँ  
 दिलो-नगर की दुआँ कुबूल हो जाएँ

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
 तुम आ रही हो ज़माने की आँख से बचकर  
 नज़र झुकाए हुए और बदन चुराए हुए  
 खुद अपने क़दमों की आहट से झेंपती-डरती  
 खुद अपने साये की जुंबिश<sup>14</sup> से ख़ौफ़ खाये हुए

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
 रवाँ है<sup>15</sup> छोटी-सी कशती हवाओं के रुख़ पर  
 नदी के साज़ पे मल्लाह गीत गाता है  
 तुम्हारा जिस्म हर इक लहर के झकोले से  
 मेरी खुली हुई बाँहों में झूल जाता है

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
 मैं फूल टाँक रहा हूँ तुम्हारे जूड़े में  
 तुम्हारी आँख मसरत<sup>16</sup> से झुकती जाती है  
 न जाने आज मैं क्या बात कहने वाला हूँ  
 जबान खुश्क<sup>17</sup> है, आवाज़ रुकती जाती है

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
मेरे गले में तुम्हारी गुदाज<sup>18</sup> बाँहें हैं  
तुम्हारे होंटों पे मेरे लबों<sup>19</sup> के साये हैं  
मुझे यक्रीन है कि हम अब कभी न बिछड़ेंगे  
तुम्हें गुमान कि हम मिल के भी पराये हैं

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
मेरे पलंग पे बिखरी हुई किताबों को  
अदाए-इज्जो-करम<sup>20</sup> से उठा रही हो तुम  
सुहाग रात जो ढोलक पे गाये जाते हैं  
दबे सुरों में वही गीत गा रही हो तुम

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
वो लम्हे कितने दिलकश थे वो घड़ियाँ कितनी प्यारी थीं  
वो सेहरे कितने नाजुक थे, वो लड़ियाँ कितनी प्यारी थीं  
बस्ती की हर इक शादाब गली ख्वाबों का जज़ीरा<sup>22</sup> थी गोया  
हर मौजे-नफ़स<sup>22</sup>, हर मौजे-सबा<sup>23</sup>, नगमों<sup>24</sup> का ज़खीरा<sup>25</sup> थी गोया

नागाह<sup>26</sup> लहकते खेतों से टापों की सदाएँ आने लगीं  
बारूद की बोझल बू लेकर पच्छिम से हवाएँ आने लगीं  
तामीर<sup>27</sup> के रौशन चेहरे पर तख़रीब<sup>28</sup> का बादल फैल गया  
हर गाँव में वहशत<sup>29</sup> नाच उठी, हर शहर में जंगल फैल गया  
मग़िब<sup>30</sup> के मुहज़ज़ब<sup>31</sup> मुल्कों से कुछ खाकी वर्दीपोश<sup>32</sup> आए  
इठलाते हुए मग़रूर<sup>33</sup> आए, लहराते हुए मदहोश आए  
ख़ामोश ज़मीं के सीने में खेमों की तनाबे<sup>34</sup> गड़ने लगीं  
मक्खन-सी मुलाइम राहों पर, बूटों की ख़राशें<sup>35</sup> पड़ने लगीं  
फ़ौजों के भयानक बैंड तले, चरखों की सदाएँ डूब गईं



जीपों की सुलगती धूल तले, फूलों की क़बाएँ<sup>36</sup> डूब गईं  
 इंसान की क्रीमत गिरने लगी, अज्नास<sup>37</sup> के भाव चढ़ने लगे  
 चौपाल की रौनक घटने लगी, भर्ती के दफ़ातिर<sup>38</sup> बढ़ने लगे  
 बस्ती के सजीले शोख जवाँ, बन-बन के सिपाही जाने लगे  
 जिस राह से कम ही लौट सके, उस राह पे राही जाने लगे  
 उन जाने वाले दस्तों में, ग़ैरत<sup>39</sup> भी गई बनाई<sup>40</sup> भी  
 माँओं के जवाँ बेटे भी गये, बहनों के चहेते भाई भी  
 बस्ती पे उदासी छाने लगी, मेलों की बहारें ख़त्म हुईं  
 आमों की लचकती शाख़ों से झूलों की क़तारें ख़त्म हुईं  
 धूल उड़ने लगी बाज़ारों में, भूक उगने लगी ख़लियानों में  
 हर चीज़ दुकानों से उठकर, रूपोश हुई<sup>41</sup> तहख़ानों में  
 बदहाल<sup>42</sup> घरों की बदहाली, बढ़ते-बढ़ते जंजाल बनी  
 महँगाई बढ़कर काल बनी, सारी बस्ती कंगाल बनी  
 चरवाहियाँ रस्ता भूल गईं, पनिहारियाँ पनघट छोड़ गईं  
 कितनी ही कुँआरी अबलाएँ, माँ-बाप की चौखट छोड़ गईं  
 इफ़लासजदा<sup>43</sup> दहक़ानों<sup>44</sup> के हल-बैल बिके, ख़लियान बिके  
 जीने की तमन्ना के हाथों, जीने के सब सामान बिके  
 कुछ भी न रहा जब बिकने को, जिस्मों की तिज़ारत<sup>45</sup> होने लगी  
 ख़ल्वत<sup>46</sup> में भी जो मम्नू<sup>47</sup> थी वो ज़ल्वत<sup>48</sup> में ज़सारत<sup>49</sup> होने लगी

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
 तुम आ रही हो सरे-शाम बाल बिख़राए  
 हज़ार-गूना<sup>50</sup> मलामत<sup>51</sup> का बार<sup>52</sup> उठाए हुए  
 हवसपरस्त<sup>53</sup> निगाहों की चीरादस्ती<sup>54</sup> से  
 बदन की झेंपती उर्यानियाँ<sup>55</sup> छुपाये हुए

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
मैं शहर जाके हर इक दर पे झाँक आया हूँ  
किसी जगह मेरी मेहनत का मोल मिल न सका  
सितमगरो<sup>56</sup> के सियासी<sup>57</sup> क्रिमारखाने<sup>58</sup> में  
अलम-नसीब<sup>59</sup> फ़िरासत<sup>60</sup> का मोल मिल न सका

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
तुम्हारे घर में क्रयामत का शोर बरपा है  
महाज्जे-जंग<sup>61</sup> से हरकारा<sup>62</sup> तार लाया है  
कि जिसका ज़िक्र तुम्हें जिन्दगी से प्यारा है  
वो भाई नर्ग़ए-दुश्मन<sup>63</sup> में काम आया है

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
हर एक गाम<sup>64</sup> पे बदनामियों का जमघट है  
हर एक मोड़ पर रुसवाइयों के मेले हैं  
न दोस्ती, न तकल्लुफ़<sup>65</sup>, न दिलबरी<sup>66</sup>, न ख़ुलूस<sup>67</sup>  
किसी का कोई नहीं आज सब अकेले हैं

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
वो रहगुज़र जो मेरे दिल की तरह सूनी है  
न जाने तुमको कहाँ लेके जाने वाली है  
तुम्हें ख़रीद रहे हैं ज़मीर<sup>68</sup> के क्रातिल  
उफ़ुक़ पे ख़ूने-तमन्नाए-दिल<sup>69</sup> की लाली है

तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं  
सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे  
चाहत के सुनहरे ख़्वाबों का अंजाम<sup>70</sup> है अब तक याद मुझे

उस शाम मुझे मालूम हुआ, खेतों की तरह इस दुनिया में सहमी हुई दोशीजाओं<sup>71</sup> की मुस्कान भी बेची जाती है उस शाम मुझे मालूम हुआ इस कारगहे-ज़रदारी में<sup>72</sup> दो भोली-भाली रूहों<sup>73</sup> की पहचान भी बेची जाती है

उस शाम मुझे मालूम हुआ, जब बाप की खेती छिन जाए ममता के सुनहरे ख्वाबों की अनमोल निशानी बिकती है उस शाम मुझे मालूम हुआ, जब भाई जंग में काम आए सरमाये<sup>74</sup> के ब्रह्बाखाने<sup>75</sup> में बहनों की जवानी बिकती है सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे चाहत के सुनहरे ख्वाबों का अंजाम है अब तक याद मुझे

तुम आज हजारों मील यहाँ से दूर कहीं तनहाई में  
या बज़मे-तरब-आराई<sup>76</sup> में  
मेरे सपने बुनती होगी, बैठी आगोश<sup>77</sup> पराई में  
और मैं सीने में ग़म लेकर दिन-रात मशक्रत<sup>78</sup> करता हूँ  
जीने की खातिर मरता हूँ  
अपने फ़न को रुस्वा करके अग्यार का दामन भरता हूँ  
मज्बूर हूँ मैं? मज्बूर हो तुम, मज्बूर ये दुनिया सारी है  
तन का दुख मन पर भारी है

इस दौर<sup>79</sup> में जीने की क्रीमत या दरो-रसन<sup>80</sup> या ख्वारी<sup>81</sup> है मैं दारो-रसन तक जा न सका, तुम अहद<sup>82</sup> की हद तक आ न सकीं चाहा तो मगर अपना न सकीं हम तो दो ऐसी रूहें हैं जो मंजिले-तस्की<sup>83</sup> पा न सकीं जीने को जिये जाते हैं मगर, साँसों में चिताएँ जलती हैं खामोश वफ़्राएँ जलती हैं

संगीन हक्काइक-जारों<sup>84</sup> में, ख्वाबों की रिदाएँ<sup>85</sup> जलती हैं  
और आज जब इन पेड़ों के तले फिर दो साये लहराये हैं  
फिर दो दिल मिलने आए हैं

फिर मौत की आँधी उट्टी है, फिर जंग के बादल छाए हैं  
मैं सोच रहा हूँ इनका भी, अपनी ही तरह अंजाम न हो  
इनका भी जुनूँ नाकाम न हो  
इनके भी मुकद्दर में लिक्खी इक खून में लिथड़ी शाम न हो  
सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे  
चाहत के सुनहरे ख्वाबों का अंजाम है अब तक याद मुझे

हमारा प्यार हवादिस<sup>86</sup> की ताब<sup>87</sup> ला न सका  
मगर इन्हें तो मुरादों<sup>88</sup> की रात मिल जाएँ  
हमें तो कश्मकशे-मर्गो-बे अमाँ<sup>89</sup> ही मिली  
इन्हें तो झुमती-गाती हयात मिल जाए

बहुत दिनों से है ये मशगला<sup>90</sup> सियासत का  
कि जब जवान हों बच्चे तो क्रल्ल हो जाये  
बहुत दिनों से है खब्त<sup>91</sup> हुकमरानों का  
कि दूर-दूर से मुल्कों में क्रहत<sup>92</sup> बो जायें

बहुत दिनों से जवानी के ख्वाब वीराँ हैं  
बहुत दिनों से मुहब्बत पनाह<sup>93</sup> ढूँढ़ती है  
बहुत दिनों से सितम-दीदा<sup>94</sup> शाहराहों<sup>95</sup> में  
निगारे-जीस्त<sup>96</sup> की इस्मत<sup>97</sup> पनाह ढूँढ़ती है

चलो कि आज सभी पायमाल<sup>98</sup> रूहों से  
कहें कि अपने हर इक ज़ख्म को जंबाँ कर लें  
हमारा राज हमारा नहीं सभी का है  
चलो कि सारे ज़माने को राजदाँ<sup>99</sup> कर लें

चलो कि चल के सियासी मक्रामेरों से कहें कि  
कि हमको जंगो-जदल<sup>100</sup> के चलन से नफ़रत है  
जिसे लहू के सिवा कोई रंग रास न आए  
हमें हयात के उस पैरहन<sup>101</sup> से नफ़रत है

कहो कि अब कोई क्रातिल अगर इधर आया  
तो हर क्रदम पे ज़मीं तंग होती जाएगी  
हर एक मौजे-हवा रुख बदल के झपटेगी  
हर एक शाख रगे-संग होती जाएगी

उठो कि आज हर इक जंगजू<sup>102</sup> से ये कह दें  
कि हमको काम की खातिर कलों की हाजत<sup>103</sup> है  
हमें किसी की ज़मीं छीनने का शौक नहीं  
हमें तो अपनी ज़मीं पर हलों की हाजत है

कहो कि अब कोई ताजिर<sup>104</sup> इधर का रुख न करे  
अब इस जगह कोई कुँआरी न बेची जाएगी  
ये खेत जाग पड़े, उठ खड़ी हुई फ़स्लें  
अब इस जगह कोई क्यारी न बेची जाएगी

ये सरजमीने<sup>105</sup> है गौतम की और नानक की  
इस अर्जे-पाक<sup>106</sup> पे वहशी<sup>107</sup> न चल सकेंगे कभी  
हमारा खून अमानत है नस्ले-नौ<sup>108</sup> के लिए  
हमारे खून पे लश्कर न पल सकेंगे कभी

कहो कि आज भी हम सब अगर खमोश रहे  
तो इस दमकते हुए खाकदाँ की खैर नहीं  
जुनूँ की ढाली हुई ऐटमी बलाओं से  
जमीं की खैर नहीं, आस्माँ की खैर नहीं

गुज्रशता<sup>109</sup> जंग में घर ही जले मगर इस बार  
अजब नहीं कि ये तन्हाइयाँ भी जल जाएँ  
गुज्रशता जंग में पैकर<sup>110</sup> जले मगर इस बार  
अजब नहीं कि ये परछाइयाँ भी जल जाएँ  
तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं

(लिप्यंतरण आशा प्रभात)

[साहिर समग्र पुस्तक से]

- 
1. मर्मर जैसा सफ़ेद सपना, 2. सुन्दरी का शरीर, 3. रेखाएँ, 4. कल्पनाओं, 5. भ्रम, 6. विश्वास,
  7. गतिहीन, निश्चल, 8. न्यासधारी, 9. संघर्ष, 10. जिज्ञासा, तलाश, 11. प्रारम्भ, 12. प्रत्यक्ष और परोक्ष,
  13. प्रार्थना, 14. हरकत, चाल, 15. बह रही है, 16. खुशी, 17. सूखी हुई, 18. मांसल, 19. होंटों, 20. नम्रता और कृपा से, 21. द्वीप, 22. साँस-लहरी, 23. हवा का झोंका, 24. गीतों,
  25. भंडार, 26. अचानक, 27. निर्माण, 28. विनाश, 29. भय, 30. पश्चिम, 31. सभ्य, 32. खाकी वर्दी वाले, 33. घमंडी, 34. खूंटों की रस्सियाँ, 35. खरोंच, 36. वस्त्र, 37. अनाज,
  38. दफ़्तर का बहु., कार्यालय, 39. स्वाभिमान, 40. जवानी, 41. छुपा दी गई, 42. दुर्दशाग्रस्त।
  43. निर्धन, 44. किसानों, 45. व्यापार, 46. एकान्त, 47. वर्जित, 48. भीड़, 49. साहस, 50. बहुत अधिक, 51. निन्दा, 52. बोझ, 53. लोभी, 54. अत्याचार, 55. नंगापन, 56. अत्याचारी,
  57. राजनीतिक, 58. जुआघर, 59. जिसके भाग्य में दुख ही दुख हों, 60. चतुरता, 61. युद्ध-क्षेत्र,

परछाइयाँ

62. डाक लानेवाला, 63. शत्रुओं का घेरा, 64. पग, 65. दिखावा, 66. माशूकी, 67. स्नेह, 68. अन्तरात्मा, 69. मन की अभिलाषा की हत्या, 70. परिणाम, अन्त, 71. कुमारियों, 72. धनवानी का कार्यालय (संसार में), 73. आत्माओं, 74. घन, 75. वेश्यालय, 76. आनन्द की सभा, 77. गोद, 78. परिश्रम, 79. समय, 80. सूली, 81. अपमान, 82. वचन, 83. सन्तोष की मंजिल 84. कड़ी यथार्थता, 85. चादरें, 86. दुर्घटनाएँ, 87. सहन न कर सका, 88. इच्छा, 89. असुरक्षित मृत्यु की दुविधा, 90. काम, 91. पागलपन, 92. अकाल, 93. शरण, 94. पीड़ित, 95. राजमार्ग, 96. जीवन की दुल्हन, 97. सतीत्व, 98. पाँव तले रौंदी हुई, 99. भेद जाननेवाला, 100. युद्ध 101. वस्त्र, 102. लड़ाका, सैनिक, 103. आवश्यकता, 104. व्यापारी, 105. धरती, 106. पवित्र धरती, 107. जंगली पशु, 108. नई पीढ़ी। 109. गत, 110. शरीर



राजकमल प्रकाशन समूह

साथ जुड़ें साथ पढ़ें

 98108 02875